गंगा-पुस्तकमाला का आठवाँ पुष्प

हृदय की परख

[उपन्यास]

श्रीचतुरसेन शास्त्री
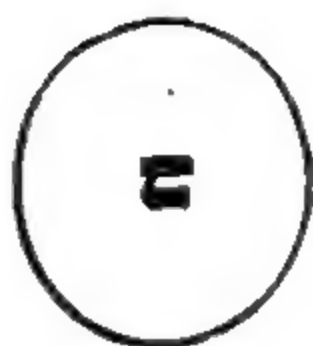
हृदय की परख

संपादक
सर्वप्रथम देव-पुरस्कार-विजेता
श्रीदुलारेलाल भार्गव
(सुधा-संपादक)

उत्तमोत्तम उपन्यास तथा कहानियाँ

पुस्तक	मूल्य
रंगभूमि (दोनो भाग)	५), ६)
बहता हुआ फूल	२॥), ३)
विजया	१॥), २)
चित्रशाला (दो भाग)	३।), ४।)
हृदय की प्यास	२), २॥)
विराटा की पद्मिनी	२॥), ३)
नंदन-निकुंज	१), १॥)
प्रेम-प्रसून	१=), १॥=)
प्रेम-द्वादशी	॥), १)
प्रेम-पंचमी	॥), १)
गढ़कुंडार	२॥), ३)
पतन	१॥), २)
जब सूर्योदय होगा	१), १॥)
बिदा	२॥), ३)
अबला	१), १॥)
मदारी	१॥), २)
मा	३), २॥)
कर्म-मार्ग	१॥), २)
केन	१), १॥)
विजय (दो भाग)	४), ५)
अप्सरा	१), १॥)
गिरिबाला	१), १॥)
कर्म-फल	१॥), २।)
तूलिका	१), १॥)
अश्रुपात	१), १॥)
जासूस की डाली	१॥), २)
विचित्र योगी	१), १॥)
पवित्र पापी	३), ३॥)
गोरी	१), १॥)
पाप की ओर	१), १॥)
भाग्य	१), १॥)
अछूत	१), १॥)
प्रतिमा	१॥), २)
प्रेम की भेंट	१), १॥)
कोतवाल की करामात	१), १॥)
कंडली-चक्र	१), १॥)
क़ैदी	१), १॥)
भाई	१), १॥)
प्रवास का ब्याह	१), १॥)
जागरण	२), २॥)

गंगा-पुस्तकमाला का आठवाँ पुष्प

Hirday Ki Parakh.

हृदय की परख

[स्वतंत्र सामाजिक उपन्यास]

लेखक

प्रो० चतुरसेन शास्त्री आयुर्वेदाचार्य

हृदय की प्यास, आरोग्य-शास्त्र, ब्रह्मचर्य-साधन, अछूत, गोलसभा, खवास का ब्याह, अंतस्तल आदि के रचयिता

Prof. Chatursen Shastri

मिलने का पता—

गंगा-ग्रंथागार

२०, अमीनाबाद-पार्क

लखनऊ

चतुर्थावृत्ति

सजिल्द १॥)] सं० [illegible] वि० [सादी १)

प्रकाशक
श्रीदुलारेलाल भार्गव
अध्यक्ष गंगा-पुस्तकमाला-कार्यालय
लखनऊ
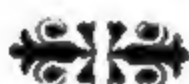
मुद्रक
श्रीदुलारेलाल भार्गव
अध्यक्ष गंगा-फ़ाइनआर्ट-प्रेस,
लखनऊ

Good Book
A NOVEL

HIRDAY KE PARAKH
By
Prof. Chatursen Shastri

परम विदुषी श्रीमती कलावतीदेवी की स्वर्गस्थ पवित्र आत्मा के लिये

बहन, इस पुस्तक को पढ़कर तुम बहुत रोई थीं। एक दिन भोजन भी नहीं किया था। तुमने कहा था कि इसे जल्दी बहुत सुंदर छपवाकर मुझे देना, मैं नित्य पढ़ा करूँगी। पर तुम इसके छपने तक ठहरीं नहीं। देवबाला सरला से तुम्हें बड़ा स्नेह और सहानुभूति थी। तुम उसे भगवान् की गोद में जाते देख हुलसकर उसके साथ ही चल खड़ी हुईं। अच्छा, अपनी इस परम आदर और प्यार की वस्तु को लेती जाओ, जल्दी में इसे यहीं भूल गई थीं; यह तुम्हें समर्पित है। बहन, तुम्हारी एक मूर्ति इस पुस्तक में रखने की बड़ी लालसा थी, पर अपने नेत्रों की तृप्ति के लिये हमारे पास तुम्हारी कोई प्रति-मूर्ति नहीं है। हमारे हृदय को छोड़कर वह अब इस संसार में कहीं किसी भाव नहीं मिल सकती। जो वस्तु कहीं नहीं मिल सकती, उसकी अभिलाषा त्याग देना ही अच्छा है। अस्तु। तुम हमारे हृदयों में ही सदा वास करो, हमारी दुलारी कला!

तुम्हारा त्यक्त ज्येष्ठ भ्राता
तुम्हारे आदर के शब्दों में—

'वैद्यजी'
"Vaydjee"

प्राक्कथन

चैत्र मास के अंतिम दिन व्यतीत हो रहे थे। वसंत का यौवन अंगों से फूट चला था। समय संध्या का था। चंद्रमा कभी बादलों के आवरणों में मुँह छिपाता और कभी स्वच्छ नीलिमामय आकाश में खुले मुँह अठखेलियाँ करता फिर रहा था। मैं भोजन के उपरांत अपने अनन्य मित्र बाबू सूर्यप्रताप के साथ अपने मकान की छत पर घूम-घूमकर आनंद लूट रहा था। मन उस समय अत्यंत प्रफुल्ल था; किंतु मेरे मित्र के मन में सुख नहीं था। क्योंकि जब मैंने हँसकर सुंदर चंद्रमा की चपलता पर एक व्यंग्य छोड़ा, तो उन्होंने प्रशांत तारक-हीन नीलाकाश की ओर हाथ फैलाकर उदास मुख, गंभीर वाणी और कंपित स्वर से कहा—"इस अस्थिर और क्षुद्र चंद्रमा की चपलता में अनुरंजित होकर कहीं इस अनंत गांभीर्य की अमूर्त मूर्ति को मत भूल जाना।"

क्षण-भर में मित्र के रंग में मेरा मन रँग गया। एक बार ऊपर चंद्रमा को देखा, तो उसकी चंचलता वैसी ही थी। उस पर मेरे मित्र की बात का कुछ भी प्रभाव न पड़ा था। मैंने उसकी ओर से मुँह फेर लिया। मैं मित्र को लेकर एक चटाई पर जा बैठा। वहाँ बैठते ही उन्होंने अपना हृदय खोल दिया। शीघ्र ही मैं उस भाव में तल्लीन हो गया। रात्रि के साथ ही-साथ मेरे मित्र के विचारों की धाराएँ गंभीर होती चली गईं। अंततः वह अमृत-धारा-प्रवाह बंद हुआ और मैंने अपने हृदय को अत्यंत गंभीर और नितांत प्रशांत प्रदेश में स्थिर पाया। उस समय जब मैं अपने मित्र से सोने की आज्ञा लेकर चला, तो देखा कि समस्त नगर की

ज्योत्स्ना-छटा से आलोकित धवल अट्टालिकाएँ मेरे हृदय की ही तरह शांत, गंभीर एवं स्थिर हैं। मानो हमारी बातचीत का उन पर पूर्ण प्रभाव पड़ा है। जो हो, किंतु मैं स्वयं शांत न रह सका। न मुझे निद्रा आई। अंततः उठकर मैंने कुछ मैले काग़ज़ों पर—जो उस समय मिल सके—लिखना आरंभ किया, और इस प्रकार इस पुस्तक के प्रारंभ के ४ परिच्छेद उसी गंभीर सुनसान अर्द्ध रात्रि में लिखे गए।

पुस्तक का भाव क्या है, इस संबंध में मैं कुछ कहूँ, इसकी अपेक्षा यही उत्तम प्रतीत होता है कि उसे पाठकों की स्वतंत्र आलोचना पर छोड़ दूँ। यह बड़ी ही अनुचित बात है कि लेखक विषय-प्रवेश से प्रथम एक सिद्धांत-मात्र स्थिर कर ले, और अपनी कल्पना से ही पाठकों के मस्तिष्क में उन विचारों पर अंध विश्वास का बीज आरोपित कर दे, जिन्हें उसने सिद्ध करने की पुस्तक में चेष्टा की है। मैं अपनी गँवारू भाषा में इस ज़बरदस्ती को 'धाँल' कहता हूँ। तब इतना अवश्य कहना उचित समझता हूँ कि समस्त प्राणियों का कार्य-क्रम दो प्रधान शक्तियों द्वारा संचालित होता है, जिनमें एक का अधिष्ठान मस्तिष्क है और दूसरी का हृदय। पहली शक्ति की प्रबलता से मनुष्य 'को' ज्ञान, वैराग्य, कर्तव्य और निष्ठा का यथावत् उदय होता है; किंतु दूसरी शक्ति केवल आवेश पर आँधी और तूफ़ान की तरह कभी-कभी इतनी प्रबलता से संचरित होती है कि उसमें मनुष्य का ज्ञान, कर्म, निष्ठा और विवेचना सब लीन-जैसी हो जाती हैं। उस दशा में मनुष्य का हृदय जितना ही सुंदर, स्वच्छ और भावुक होता है, उतना ही वह पतन के मार्ग पर सरलता से झुकता है। संसार में अनेक अपराध हृदय के सौंदर्य के कारण होते हैं। अनेक पुरुष अपने हृदय की कोमलता को दूषण समझते हैं। यदि किसी तरह वे अपने हृदय को कठोर

कर सकते, तो अवश्य वे महान् पुरुष बन जाते। किंतु निश्चय ही हृदय का सुंदर होना पाप नहीं है। इसीलिये अपराधी को अपराधी ठहराने में बड़े भारी विचार—विवेचन—की आवश्यकता है। भगवान् बुद्ध कदाचित् ऐसे ही पारखी थे। उनका सिद्धांत था कि अपराध हुआ है, इससे प्रथम यह देखो कि अपराध क्यों हुआ है। हमारे पाठक इस पुस्तक में कुछ पात्रों को ऐसा ही अपराधी पावेंगे, जिन्हें वे घोर अपराध का पात्र समझकर भी कदाचित् सहानुभूति की दृष्टि से देख सकें। यदि मेरी यह धारणा सत्य हुई, तो मैं अपने प्रयत्न को कुछ अंशों में सफल समझूँगा।

मैं कोई साहित्य-सेवी या लेखक नहीं। मुझे यह भी ज्ञान नहीं कि उपन्यास में क्या-क्या गुण या लक्षण होने चाहिए, और यह पुस्तक उपन्यास कहाने योग्य भी है या नहीं। साथ ही यह मेरा प्रथम प्रयास है। इसलिये पुस्तक आपके हाथ सौंपते हुए मेरा हृदय संकुचित होता है। तथापि मैं प्रार्थना करता हूँ कि इसे एक साधारण कहानी-मात्र समझकर भी यदि आप प्यार करेंगे, तो मैं आपका विशेष कृतज्ञ होऊँगा।

एक बात और। इस पुस्तक की सब मेरी पूँजी उधार की है। मेरे आदरणीय मित्र बाबू सूर्यप्रताप ने जिन भावों की मुझे झाँकी दिखाकर मुग्ध कर दिया था, उन्हीं को एकत्रित करने-मात्र का मुझे यश है। इससे अधिक के अधिकारी मेरे मित्र हैं।

विनीत—

श्रीचतुरसेन वैद्य

हृदय की परख

पहला परिच्छेद

रात बड़ी अँधेरी थी। ११ बज चुके थे, बादल गरज रहे थे, बिजली कड़क रही थी, और मूसलधार वर्षा हो रही थी। हाथों हाथ नहीं सूझता था, चारो ओर सन्नाटा छा रहा था। लोकनाथसिंह अपने खेत के पासवाले झोपड़े में चुपचाप बैठा हुआ गुड़गुड़ी पी रहा था। अचानक उसे घोड़े की टाप के शब्द सुनाई दिए। पास ही आले में मिट्टी का एक दिया टिमटिमा रहा था। उसकी बत्ती एक तिनके से उसका-कर, उसने आँखों पर हाथ रखकर अंधेरे में देखा कि ऐसे बुरे वक़्त में कौन घर से बाहर निकला है। थोड़ी देर बाद किसी ने उसका द्वार खटखटाया। लोकनाथ ने बाहर आकर देखा, एक सवार पानी में तर-बतर खड़ा है, और उसके हाथों में एक नवजात बालक है। बालक दो ही चार दिन का होगा। सवार ने बूढ़े से कहा—"महाशय! क्या आप कृपा करके मेरी कुछ सहायता करेंगे? आप देखते हैं, मैं बिलकुल भीग गया—रात भी बहुत बीत गई है; कुछ ऐसी ही घटनाएं हो गईं, जिससे इस बालक को ऐसे कुअवसर पर बाहर ले आना पड़ा। क्या आपसे कुछ आशा करूँ?"

बूढ़े ने दिए के धुँधले प्रकाश में सवार का मुख ध्यान से देखा। देखकर वह दंग रह गया। वैसा सुंदर मुख राजाओं का भी कम देखा जाता है। उसके सतेज नेत्रों को देखकर ऐसा बोध होता था, मानो दुनिया-भर की बुद्धि उसमें भरी है। बूढ़े ने सोचा, यह पुरुष साधारण नहीं है। फिर उसने कहा—"महाशय! इसे अपना ही झोपड़ा समझिए, उतर आइए, विश्राम करके प्रातःकाल उठ जाइएगा।"

सवार ने गंभीरता से कहा—"मैं इस समय ठहर नहीं सकता। यदि आप सवेरे तक बच्चे को रख सकें, तो बड़ा उपकार हो। सवेरे आकर इसे ले जाऊँगा।"

बूढ़ा राज़ी हो गया। बच्चे को वहीं छोड़कर सवार उसी आँधी-पानी में ग़ायब हो गया। थोड़ी देर में घोड़े की टाप का सुनाई देना भी बंद हो गया।

दूसरा परिच्छेद

प्रभात हो गया। पक्षी चहचहाने लगे। गाँव के लोग गीत गाते-गाते हल-बैल लेकर खेत को चल दिए। पर सवार अभी तक न आया—वह बालक वहीं उसी झोपड़ी में पड़ा रहा। लोकनाथ अत्यंत उद्विग्न होकर उसकी बाट जोह रहा था। गली में वर्षा का पानी भर रहा था। उसमें किसी किसान के ढोर के पैरों की छप-छप ध्वनि सुनकर लोकनाथ दौड़कर खिड़की से झाँकने लगा कि कहीं वही तो नहीं आ रहा है। दिन चढ़ आया—वह बीत भी गया। रात आई—फिर दिन निकला, पर सवार का कहीं पता नहीं। धीरे-धीरे दिन-पर-दिन बीतने लगे, पर सवार के आने के कोई लक्षण नहीं देख पड़े। लोकनाथ ने उसकी आशा त्याग दी। वह उस कन्या को अपनी पुत्री के समान पालने लगा। उसने उसे अपनी पुत्री ही प्रसिद्ध कर दिया।

लोकनाथ का विवाह नहीं हुआ था। गाँव के लोगों में इस बात को लेकर तरह-तरह की अफ़वाहें प्रसिद्ध थीं। जो हो, पर उसने अपनी सारी आयु ब्रह्मचर्य-पूर्वक ही व्यतीत कर दी थी। ऐसी दशा में जैसा कि बहुधा होता है कि अविवाहित पुरुष संयम से न रहकर किसी-न-किसी स्त्री के गुप्त प्रेम में

फँसे रहते हैं, वैसा ही इस कन्या को देखकर लोगों ने समझा कि वह कन्या इसकी ऐसी ही लड़की है ; पर उस शिशु के स्नेह से उसने इस बदनामी की चोट को खुशी से सह लिया। कन्या धीरे-धीरे खड़ी होकर खेलने लगी।

लोकनाथ के पास दो-चार मास में भिन्न-भिन्न स्थानों से मनीऑर्डर आ जाया करते थे। उन पर लिखा रहता था—'सरला के लिये।' सबने उसका नाम सरला ही रक्खा। सरला सचमुच सरला ही थी। उसका रूप ऐसा दिव्य था कि उसे देखने को सभी आकुल रहते थे।

सरला थी तो बालक, पर न-जाने उसने कैसी रुचि पाई थी। उसका स्वभाव बड़ा विलक्षण था। किसी से बात करने और खेलने की अपेक्षा उसे जंगल में चुपचाप किसी कुंज में बैठे रहना अधिक अच्छा लगता था। वह बहुधा या तो तरह-तरह के फूलों की मालाएँ बनाया करती थी, या बैठी-बैठी पक्षियों की बोली ऐसे ध्यान से सुना करती थी, मानो वह उसे सीख रही हो। बूढ़े लोकनाथ को वह अपना बाप समझती थी, और ऐसा प्यार करती थी, जैसा विरली ही संतान करती है।

बूढ़ा लोकनाथ जब उस छोटे-से नए गुलाब से बातें करता, तो परम सुख पाता। सरला जब बातें करती, तो उसके हिलते हुए होठ ऐसे मालूम होते, मानो मंद वायु से प्रेरित होकर गुलाब की पंखड़ियाँ हिल रही हों। उसकी बोली भौंरे की

गुंजान की तरह मन को लहरा देती थी। बूढ़े से बातें करते-करते सरला जब ताली बजाकर सरलता से हँस देती, तब उसके कुंद-कली के समान धवल दाँतों की शोभा देखते ही बनती थी।

गाँववाले सभी उससे बातें करना चाहते थे, पर बातचीत उसे पसंद नहीं थी। फिर भी उससे जो कोई बोलता, वह बड़े ही मधुर और सरल स्वर से ऐसे अपनावे के साथ बातें करती कि बातें करनेवाला मंत्र-मुग्ध हो जाता। पर उसे जो आनंद वृक्षों की झूमती हुई टहनियों और पर्वतों की मूक श्रेणियों को चुपचाप निहारने में आता था, वह जगत् के साथ अपनी तंत्री बजाने में नहीं। उसके स्वभाव को सभी जानते थे, पर उसे कोई रोकता नहीं था। उसकी इच्छा में आघात पहुँचाना किसी को अच्छा न लगता था।

यदि घर की किन्हीं वस्तुओं से उसे प्रेम था, तो अपने पिता के गाय-भैंस-बछड़ों से, फुलवारी से और हरे-हरे लह-लहाते खेतों से। वह बड़े प्रेम और यत्न से उन्हें पानी पिलाती, पुचकारती और चारा खिलाती थी। कभी-कभी वह जंगल से अपने हाथों से घास छील लाती और उन्हें खिलाती थी। लोकनाथ जब गाय दुहने बैठता, तो सरला उसके आगे खड़ी होकर उसके माथे को सहलाती रहती, और गाय चुप-चाप बछड़े को चाटती रहती। उसे देखते ही गाय और बछड़े माँ-माँ करके चिल्ला उठते, और जब तक सरला उनके पास जाकर न पुचकारती, चुप न होते।

अभी तक उसे मारने, धमकाने या मलामत देने का एक भी अवसर नहीं आया।

गाँव से उत्तर-पूर्व की ओर एक विशाल पीपल का पेड़ था। उसी ओर लोकनाथ का घर और खेत थे। उस पीपल के वृक्ष के नीचे किसी महात्मा की समाधि थी, और उसी में एक छोटा-सा पुस्तकालय था। जो पुस्तकें वहाँ रक्खी थीं, कहते हैं, वे सब उसी महापुरुष ने लिखी थीं। वे सब पुरानी लिपि में लिखी थीं।

लोकनाथ ने सरला को कुछ अक्षराभ्यास कराया था। वह स्वयं कुछ ऐसा पढ़ा-लिखा नहीं था, पर पढ़ना उसे अच्छा अवश्य लगता था। सरला अधिकांश में वहीं बैठकर उन पुस्तकों को पढ़ने की चेष्टा करती थी। क्या जाने कैसा उसका मस्तिष्क था! उसने अक्षर-अक्षर जोड़कर निरंतर अभ्यास से कुछ ऐसा अभ्यास कर लिया कि वह उस प्राचीन लिपि को अच्छी तरह पढ़ने और समझने लगी।

दिन दिन उसको वह पुस्तक पढ़ने की रुचि बढ़ने लगी। धीरे-धीरे उसका जंगल में घूमना, कुंज में बैठकर फूल गूँथना और पक्षियों की चहचहाहट को ध्यान से सुनना प्रायः छूट ही सा गया। अब उसका अवकाश का सारा समय उस अँधेरी गुफा में या उसी पीपल के वृक्ष के नीचे पुस्तक पढ़ने में लगता था।

जब दोपहर में भोजन के बाद सारे गाँव में सन्नाटा छा जाता, लोग विश्राम करने लगते, तब सरला वहीं बैठी-बैठी पुराने ग्रंथों के पत्रे उलटा-पलटा करती थी। लोकनाथ जब खेत

से घर लौटकर पुकारता—"बेटी !", तो देखता, द्वार बाहर से बंद है, बेटी वहाँ नहीं है। तब वह वहीं गुफा में जाकर देखता, उसकी बेटी स्थिर भाव से किसी पत्रे पर नज़र डाल रही है। लोकनाथ मधुर तिरस्कार से कहता—"यह क्या पागल-पन है सरला! खाना-पीना कुछ नहीं, जब देखो तभी काग़ज़ों में आँखें गड़ाए है—इन काग़ज़ों में क्या रक्खा है ?" सरला सरलता से उठ खड़ी होती, और बूढ़े की उँगली पकड़कर कहती—"काहे काका ! भोजन तो बनाकर रख आई थी, तुमने अभी नहीं खाया ?"

"कहाँ ! तू तो यहाँ बैठी है !" फिर घर आकर दोनो भोजन करते।

गाँव के लोग न-जाने क्यों, कुछ सरला से डरते-से थे। उसकी दृष्टि कुछ ऐसी थी कि सरला से न कोई आँख ही मिला सकता था, और न किसी को उसका अपमान या तिरस्कार करने का ही साहस होता था। उसकी दृष्टि में कुछ ऐसा प्रभाव था कि वह जिससे बात करती, वह दबा-सा जाता था।

तीसरा परिच्छेद

बूढ़े लोकनाथ के परिवार में सरला को छोड़कर एक दूर के रिश्तेदार का लड़का था। यह अपने माता-पिता के मर जाने पर ११ वर्ष की अवस्था में लोकनाथ की शरण में आ गया था। पर सरला को उसके साथ बहुत कम खेलना नसीब हुआ था; क्योंकि एक तो उसकी प्रकृति वैसे ही खेलने-कूदने से प्रतिकूल थी, दूसरे वह पास के क़स्बे में जहाँ पढ़ रहा था, वहाँ ही पढ़ता रहा। उसके पीछे वह कॉलेज में पढ़ने लगा था। वह कभी-कभी छुट्टियों में घर आया करता और दो-चार दिन घर रह-कर चला जाता था। उसके शील और स्वभाव की लोकनाथ बड़ी प्रशंसा करता था, इसलिये जब वह कॉलेज से घर आता, तब सरला बड़े आदर और प्रेम से उसका स्वागत करती और तन-मन से सत्कार करती थी।

कुछ तो इस व्यवहार से और कुछ उसके देव-दुर्लभ गुणों और रूप-माधुरी से युवक का जी सरला की ओर ऐसा खिंच गया कि उसे सदा ऐसी मूर्ति को देखते रहने की लालसा रहने लगी। कॉलेज की पुस्तकों में, कमरे की दीवारों में, वन-उपवन के पुष्पों और लहलहाती शाखाओं में सर्वत्र ही उसे वही सुहा-वनी मूर्ति देख पड़ने लगी। छुट्टी में जब वह घर आता, तब

अपने उत्साह, उत्कंठा और उद्वेग को छिपा नहीं सकता था। सरला उसे प्यार तो करती थी, उसकी दया और आदर की दृष्टि भी कम नहीं थी, पर उसका मन उसकी ओर खिंचता न था। उसके मन से उसके मन का रासायनिक मिश्रण न होता था। उसे ऐसा मालूम होता था कि हम दोनों आपस में एक दूसरे को देख तो रहे हैं, पर मैं उस युवक से बहुत ही दूर, एक दूसरे ही संसार में, खड़ी हूँ। वहाँ न कामना है, न अतृप्ति और न उत्कंठा। युवक जो कहता, सरला प्रसन्नता से वही करती। युवक कहता—"सरला, बाबा कहते हैं, तुम कहीं जंगल में अकेली भटकती फिरती हो, और उस समाधि में उन पुरानी किताबों को पढ़ती रहती हो; मुझे भी तो उन जगहों को दिखाओ।" यह सुनकर सरला तैयार तो उसी दम हो जाती, पर युवक के समान उत्साह, उमंग-तरंग या उत्कंठा उसे कुछ भी न होती। युवक उसके इस भाव को कभी तो सरलता, कभी शालीनता और कभी अनुराग समझता। पर बात क्या थी, सो भगवान् ही जाने।

युवक का शिक्षा-काल समाप्त हो गया। युनिवर्सिटी की डिग्री तो उसने प्राप्त कर ली, पर जितना उसका मन खेती-बारी के काम में लगता था, उतना नौकरी-चाकरी में नहीं। पढ़कर भी उसने वही खेती करना पसंद किया; उसी में उसको सुख मिला। सरला अब आठो पहर उसके साथ रहने लगी; पर घनिष्ठता ज्यों-ज्यों बढ़ने लगी, त्यों-त्यों युवा निराश-सा होने

लगा। उसे प्रत्यक्ष बोध होने लगा कि सरला कहने को तो मेरे पास ही है, पर उसका हृदय एक ऐसे देश में विहार कर रहा है, जो आशातीत है।

युवक सरला को चाहने लगा था। उधर बूढ़े की भी लालसा थी कि यदि इन दोनों का विवाह हो जाय, तो अपनी सारी धरती इनके नाम कर दूँ, जिससे सुख-चैन से इनके दिन कटें। पर यह बात बड़ी ही कठिन थी। युवक भी इस बात को अच्छी तरह समझ गया था, तिस पर भी उसने यही ठान ली थी कि जो सरला का ब्याह मुझसे न हुआ, तो यों ही कुँआरा रहकर जीवन व्यतीत करूँगा।

लोकनाथ बहुत ही बूढ़ा हो गया था। एक दिन वह खाट पर गिर ही गया। उपचार तो बहुतेरे किए गए, पर लाभ कुछ भी न हुआ। सबने जान लिया कि अब उसकी अंतिम घड़ी ही निकट है।

सरला का उसके प्रति प्रगाढ़ प्रेम था। वह अपनी सदा की संगिनी पुस्तकों को छोड़कर, हरे-हरे खेतों के कुंजों को भूलकर बूढ़े की खाट के पास बैठी रहती। एक दिन बूढ़े ने सरला से कहा—"बेटी, अब मेरे जीवन के दीपक का तेल चुक गया है। अब उसके बुझने में देर नहीं है। तनिक मेरे पास सरक आओ, तुम्हें एक भेद की बात बता जाऊँ।"

सरला का जी न-जाने क्यों कुछ दहल-सा गया। उसने कहा—"बाबा, रहने भी दो, अभी अच्छे हो जाओगे।"

बूढ़े ने सरला का हाथ पकड़कर कहा—"अब अच्छा क्या होऊँगा! आओ, मेरी एक बात सुन लो, बड़े भेद की बात है।"

सरला का जी धुकर-पुकर करने लगा। उसने कहा—"पर बाबा, ऐसी बात मत कहना, जो कुछ बुरी हो।"

बूढ़े ने थके हुए स्वर से कहा—"सरला, तू मेरी बेटी नहीं है।" सरला के शरीर में खून की गति एक क्षण के लिये रुक गई। उसने तुरंत ही बूढ़े के मुख को अपने हाथों से ढककर कहा—"चुप रहो, चुप रहो, ऐसी बात मत कहो बाबा! ऐसी बात पर किसका विश्वास होगा?"

सरला दोनो हाथों से मुँह ढककर फूट-फूटकर रोने लगी। उसका हृदय तड़फने लगा। १८ वर्ष से जिसे बाप जाना और माना, आज मरती बार वही ग़ैर बन रहा है। सरला ने अत्यंत करुणा-पूर्ण स्वर से कहा—"अब भी कह दो बाबा कि तुमने जो कुछ कहा था झूठ था; तुम बहकाते थे। बोलो, क्या यही बात नहीं है?" बूढ़े का श्वास चढ़ रहा था। उसने सरला को तसल्ली देकर धीरे धीरे कहा—"सरला, बेटी! मेरी दुलारी बेटी! बहुत बहकाया—जन्म से अब तक बहकाया है, अब क्या अंत समय में भी बहकाऊँ? बहुत दिन हुए। १६ वर्ष बीत गए। एक दिन बड़ी भारी आँधी और पानी आया था। कड़ाके की ठंडी हवा चल रही थी, तब एक युवा तुझे लाया था। बेटी, वही तेरा बाप होगा। मैं उस मुख को अभी तक

नहीं भूला हूँ। वैसा तेज और सौंदर्य कहीं नहीं देखा। जरूर वही तेरा पिता था। समय अच्छा न था; वह अधिक ठहरा भी नहीं, दिए के धुँधले प्रकाश में उसे जितना देख पाया, उससे निश्चय कोई राजकुमार मालूम होता था। वह सवेरे फिर आने की बात कह गया था; पर बेटी, आज १६ वर्ष बीत गए, वह आज तक नहीं आया। पर आज भी वह दिन मेरे नेत्रों के आगे नाच रहा है।"

इतना कहकर बूढ़ा हाँफने लगा। उसने सरला से कहा—"थोड़ा दूध दे।" सरला ने चम्मच से थोड़ा-सा दूध उसके मुँह में डाल दिया। कुछ दम लेकर बूढ़े ने फिर कहना शुरू किया—"वह आज तक न आया। अब आने की आशा भी नहीं है। सात-आठ बरस तक तेरे लिये कुछ रुपए समय-समय पर आते रहे; पर फिर बंद हो गए। अब उसका कुछ पता नहीं। आज मैं यदि तुझे उसके हाथों में सौंपकर मर सकता, तो बड़े ही सुख की बात होती, पर—"

बूढ़े की बात काटकर सरला ने कुछ उत्तेजित होकर तीव्र स्वर से कहा—"तो तुमने इतने दिनों तक मुझे धोखे में क्यों रक्खा? तभी क्यों न सब कुछ कह दिया?"

बूढ़े ने सरला की ओर करुणा से ताकते हुए कहा—"मेरी सरला! उत्तेजित मत हो। उससे क्या लाभ होता। बेटी, उसे मैंने देश-भर में बहुत खोजा; पर वह कहीं भी न मिला। और, यदि इस बूढ़े से भूल भी हुई है, तो उसे मरती बार भला-

मत मत दे। मैं तो कभी का मर गया होता, जो मेरी सरला न होती।" बात पूरी भी न हुई थी, उसका गला भर आया, आवाज़ भर्रा गई, और उसकी मैली आँखों से आँसू निकल-निकलकर सूखे फीके गालों पर बिखर गए।

सरला से यह न देखा गया। उसने देखा—उससे बड़ा अपराध हुआ है। अब वैसी बात कहने से क्या लाभ है। उसका भी हृदय उमड़ आया। उसने कहा—"नहीं बाबा, चाहे किसी ने मुझे जन्म दिया हो; पर सच्चे बाप तो मेरे तुम्हीं हो, तुम्हारे ही दुलार से मैं इतनी बड़ी हुई हूँ। मैं तो तुम्हारी ही बेटी हूँ।"

लोकनाथ ने काँपते हुए धीमे स्वर से कहा—"पर मैं तो बेटी जा रहा हूँ। वहाँ से तुम्हें देखने को लौटना न बनेगा।" आगे उससे कुछ भी न कहा गया। बूढ़ा रोने लगा।

सरला भी रो रही थी। कुछ कहना चाहा था, पर होठ-मात्र हिलाकर रह गई, कुछ कहा ही नहीं गया।

कुछ देर बाद लोकनाथ ने कहा—"सरला! मैं तेरा असली बाप भले ही न होऊँ, पर मैंने तुझे बाप की ही तरह रक्खा है। अब भी मेरी यही इच्छा है कि तू सुखी रहे। तू राजा के घर की बेटी झोपड़ी में पली है। तेरी-जैसी लड़की झोपड़ी में भी सुखी रह सकती है। सत्य कैसा अच्छा लड़का है। मुझे मालूम है, तुम दोनो में मेल भी अच्छा है। मेरी आंतरिक इच्छा है कि तुम दोनो परस्पर विवाह कर लो। मेरी धरती

और गाय-भैंसें तुम्हारे लिये बहुत हैं। फिर सत्य के पिता की भी कुछ भूमि-संपत्ति है। ईश्वर तुम्हारा मंगल करेंगे।"

सरला पसीना-पसीना हो गई। पर यह पसीना लाज से नहीं था। लज्जा का कोई चिह्न उसके मुख पर न था। बूढ़े ने सरला के मन का भाव जानने को सरला के मुख की ओर देखा। उसके नेत्रों में एक ऐसी ज्योति झलक रही थी, जैसे आत्म-चिंतन में मग्न हुए तपस्वियों की आँखों में झलकती है।

बूढ़े को अपनी ओर निहारते देखकर सरला ने कहा—"देखो बाबा! क्या जड़, क्या चैतन्य, सब का उद्गम एक ही है। एक से ही सबका विकास है, और अंत में वहीं सबका सम्मिलन होता है। मनुष्य स्वभाव से ही सम्मिलन की ओर खिंचता है, पर रास्ता भूले हुए मृग की तरह वह ऐसे सम्मिलन स्थापित कर लेता है, जो उसके उच्च और सच्चे सम्मिलन के बाधक होते हैं। अंत में वह उद्देश्य-भ्रष्ट होकर पछताता और दुखी होता है। पर जो स्थिर दृष्टि से उसी में व्रती होता है, उसे सम्मिलन-सुख मिलता है। वही धन्य है, जिसने अपने सम्मिलन के गुण को मार्ग में ही नहीं वेच दिया है। मुझे भी, बाबा! वही सुख प्राप्त करने की लालसा है। उस महा-भूति में ही सब कुछ है। मैं वहीं जाऊँगा, जहाँ सब कुछ है, याचना करने से जहाँ सब कोई सब कुछ पाते हैं।"

बूढ़े लोकनाथ ने बड़ी शांति से सरला के इस प्रौढ़ भाषण को सुना। वह स्वयं एक हताश प्रेम का स्वाद चख चुका था।

उसने देखा कि बालिका सरला जिस प्रेम में मग्न है, वहाँ कोई हताश नहीं हुआ। पर इसे यह सब ज्ञान कहाँ से हाथ लगा? मेरे खेत के पत्तों पर यह लिखा होता, तो मैं क्यों ऐसा दुःख पाता? बूढ़ा बोला—"भगवती! कुछ समझ में नहीं आता, तू कहाँ है? पर ऐसा विस्तार तेरे हृदय ने कहाँ से पाया है? मेरे झोपड़े में तो इसकी कोई सामग्री प्रस्तुत न थी।"

सरला ने कहा—"पिता! उस महापुरुष के विचारों ने, जो वहाँ पुस्तकों में लिखे रक्खे हैं, मेरी आँखें खोल दी हैं। मेरे जी में आता है कि स्वप्न में मैं एक बार उन्हें देख पाऊँ! नित्य यही भावना करके सोती हूँ, परंतु वे नहीं देख पड़ते। पर दिखाई अवश्य देंगे। जब उनके योग्य मेरा तन, मन, आत्मा हो जायँगे, तभी दिखाई देंगे। अभी तो बाबा! मैं पशु-पक्षियों से भी मधुर, सरस और सुंदर नहीं हूँ! न मुझमें वैसा ज्ञान है। तुमने देखा ही होगा कि जब प्रभात होता है, आकाश में ऊषा का उदय होता है, खेतों के पौधे मोतियों से सजकर खड़े हो जाते हैं, तब कितने पक्षी तरह-तरह के राग गाने लगते हैं। तब मैं अज्ञानी की तरह चुप-चाप उन्हें देखती रह जाती हूँ। उस सौंदर्य को मेरा हृदय कुछ भी नहीं समझता। संध्या को जब बादल लाल-लाल हो जाते हैं, तालाब के जल में पक्षी शोर कर उठते हैं, खोखलों में बैठे हुए पक्षी-शिशुओं को, जो गर्दन निकाल-निकालकर अपने-अपने माता-पिताओं को देख रहे थे, उनके माता-पिता

आकर दाना खिलाते हैं, और जब सबका मिलकर गान होता है, तब मैं अभागी की तरह उदास बैठी रहती हूँ। मुझे कुछ समझ नहीं पड़ता—मैं समझ की ऐसी हीन हूँ। पर मैं धीरे-धीरे उन्हें देखने योग्य बनने की चेष्टा कर रही हूँ। जब मनोरथ सफल होगा, तब अवश्य देख लूँगी—देखते ही पहचान लूँगी। क्योंकि उनके हृदय को तो पहचानती ही हूँ। रही सूरत, सो वह भी वैसी ही होगी। उनकी एक धुँधली-सी आकृति मेरे हृदय-पट पर खिच-सी गई है।"

इतना कहकर सरला चुप हो गई। जब वह यह कह रही थी, तब उसकी आँखें ललचा-सी रही थीं। लोकनाथ का रोग न-जाने कहाँ चला गया था—मानो वह बिलकुल स्वस्थ था।

सरला जब चुप हो गई, तब उसने सोचा कि सत्य इसके सामने क्या है? पर उसे सरला बिना सुख न होगा। बूढ़े ने कहा—"सरला बेटा! तुझे आज पहचाना, पर अब क्या? अब तो मैं चला। पहले से जान लेता, तो मरती बार मेरी आँखों में आँसू की जगह हँसी होती। तुम इतनी ऊँची दुनिया में हो बेटा! पर अभी से यह भाव क्या तुम्हें श्रेयस्कर होगा? मेरी तो यही इच्छा है कि तुम सुखी रहो। मेरा अनुरोध मान लो। सत्य से ब्याह करके तुम्हें सुख ही मिलेगा। जहाँ तुम हो, वहाँ उसे भी ले जाओ।"

इतना कहकर जो उसने सरला की ओर देखा, तो उसकी आँखों में आशा के कुछ भी चिह्न नहीं थे।

इतने ही में सत्यव्रत भी आ गया। बूढ़े ने स्नेह-दृष्टि से उस-की ओर देखकर कहा—"बेटा सत्य! तेरे ही हाथ में सरला को छोड़े जाता हूँ। जैसे बने, उसे सुखी करने में कुछ उठा न रखना। तुम दोनो विशेष प्रकार से न भी मिल सको, तो भी परस्पर सहानुभूति से रहना बेटा। मेरी यही आंतरिक इच्छा है। इसे सुनकर मैं सुख से मरूँगा।" दोनो ने रोते-रोते बूढ़े के चरण छूकर कहा—"बाबा! जैसे होगा, हम आपकी आज्ञा का पालन करेंगे।" बूढ़े ने दोनो का सिर छूकर आशीर्वाद दिया। उसी रात को बूढ़ा चल बसा।

चौथा परिच्छेद

वसंत का मनोरम काल है। सूर्य निकल तो आया है, किंतु अभी बहुत ऊँचा नहीं उठा है। उसकी सुनहरी किरणें अभी समीप के ऊँचे पर्वतों पर पड़ रही हैं। सरला चुपचाप अपनी अटारी पर बैठी उस पर्वत-शृंग के निकट उड़ते हुए पक्षियों को स्थिर नेत्रों से देख रही है। कभी-कभी सामने के झरने पर जाकर उसकी दृष्टि रुक जाती है। कैसी-कैसी भावनाएँ, कैसी-कैसी कल्पनाओं की तरंगें उसके हृदय में उठ रही हैं। इतने ही में पीछे से किसी के आने की आहट सुनकर सरला पीछे को मुड़ी, देखा, तो सत्य आ रहा है। उसे देखते ही सरला खड़ी होकर बोली—"आओ सत्य! क्या गाएँ दुह लीं ?"

"हाँ।"

"और भेड़ें।"

"वह देखो, जंगल को जा रही हैं।"

"और शिशु कहाँ है ?"

सत्य ने हँसकर कहा—"शिशु बड़ा ही बदमाश है। यह देखो, उसने मेरा सारा कुरता चबा डाला। मैं बैठा-बैठा गाएँ दुह रहा था, पीछे से आकर वह चबाने लगा, और जब मैंने

उसे फटकारा, तो टक्कर मारने को दौड़ा। मैं उससे नाराज़ होकर आया हूँ।"

सरला ने कहा—"इसमें नाराज़ होने की क्या बात थी सत्य! देखो, हिरन आदमी के पास भी नहीं फटकते। उसने तुमको अपना ही समझकर यह विनोद किया होगा? इससे क्या तुम्हें नाराज़ हो जाना चाहिए? देखें, तुम्हारा कुरता कहाँ से खराब हो गया है? लाओ, मैं उसे धो दूँ।"

सत्यव्रत ने तनिक सिटपिटाकर कहा—"ना सरले! मैं उससे सचमुच नाराज़ थोड़े ही हूँ। उस बेचारे को इस बात का ज्ञान ही कहाँ है? यह देखो, मैं अपना कुरता भी धो आया हूँ।"

सरला ने तनिक आग्रह के भाव से कहा—"किंतु सत्य! वे वैसे अज्ञानी नहीं हैं। शिशु अज्ञानी होता, तो तुम्हारे पास ढिठाई कैसे करता? तुम उसका बुरा नहीं मानोगे, यही उसे कैसे मालूम होता?"

सत्य ने कुछ लज्जा की हँसी हँसकर कहा—"अच्छा, तुम्हारी बात ही ठीक है सरले! पर यहाँ बैठी-बैठी तुम क्या कर रही हो? चलो, सामने के झरने में चलकर स्नान करें, और कुंज की छाया में बैठकर बातें करें।"

सरला चुपचाप उठकर खड़ी हो गई। दोनों जंगल को चल दिए। शिशु भी उछलता, छलाँगें भरता, पीछे-पीछे चला। अभी धूप अच्छी तरह नहीं फैली थी। दोनों झरने के निकट जा पहुँचे।

पास ही एक स्वच्छ पत्थर की शिला थी। उसी पर दोनो बैठकर झरने की शोभा निहारने लगे। सत्य बोला—"सरले! उस परम पिता को धन्यवाद देना चाहिए, जिसने मनुष्यों के लिये ऐसे सुंदर पदार्थ रचे हैं। मनुष्य चाहे कैसा ही संतप्त अथवा व्याकुल क्यों न हो, यहाँ आकर एक अद्भुत शांति उसके हृदय में बोध होने लगती है। इस मूक निर्जीव सौंदर्य में इतना आकर्षण क्यों है सरला?"

सरला ने तनिक गंभीरता से कहा—"तुम्हारी बात बिलकुल सच्ची है सत्य! किंतु क्या तुम इसका कारण नहीं जानते? असल बात तो यह है कि मनुष्य यहाँ आकर अपनी तुच्छता, हीनता और अकर्मण्यता का वास्तविक बोध करता है। जिसे लोग मूक और निर्जीव सौंदर्य कहते हैं, उसे हम अपनी भाषा में स्थिर और निश्चल सौंदर्य कह सकते हैं। जो सौंदर्य किसी चाहक की कामना करता है, वह ऐसा स्थिर नहीं रह सकता। रात में, दिन में, अंधकार में, प्रकाश में, गर्मी में, वर्षा में, चाहे जब आकर देख जाना, यह सौंदर्य ऐसा ही देख पड़ेगा। तुम इसके चाहक बनकर आए हो, पर तुम्हें दिखाने को ही इसका यह शृंगार नहीं है। यह इसका वास्तविक शृंगार है, और सहज शृंगार है। हमारे पास यह सब नहीं है। हमें यह दुष्प्राप्य है। हम केवल चाहक को दिखाने के लिये शृंगार करते हैं, पर वह स्वाभाविक नहीं होता, इससे अस्थायी होता है। यही कारण है कि हमारी आत्मा इसके

लिये ललचा जाती है। ऐसा ही लालच तुम्हें उत्पन्न हुआ है।"

इतना कहकर सरला इस भाव से सत्य का मुँह देखने लगी कि उसे मेरी बात ठीक जँची भी या नहीं। सत्य ने कहा—"इस निर्जीव और मूक सौंदर्य में तुम क्यों ऐसी महत्ता स्थापन करती हो, इसे मैं नहीं समझ सका।"

सरला ने तुरंत उत्तर दिया—"तुमने समझने की चेष्टा नहीं की, नहीं तो यह कोई गूढ़ बात नहीं है। देखो, वह जो गाँव में बालाजी का मंदिर है, उसकी पूजा सब लोग कितने काल से करते हैं। कितने लोग नित्य सिर झुकाते, कितने हाथ जोड़कर स्तुति करते, कितने मानता मानते और कामना करते हैं। कामना पूरी नहीं होती, तो भी उन पर अश्रद्धा नहीं होती। लोग यह खयाल भी नहीं करते कि यह पत्थर की प्रतिमा है। प्रत्युत यही समझते हैं कि देवता की प्रसन्नता हम पर नहीं हुई। इस भावना का कारण क्या है? पिता, माता, स्वामी की सेवा करने पर यदि फल-प्राप्ति नहीं होती, तो लोग उधर से उदासीन हो जाते हैं, कितने ही बिगड़ बैठते हैं। उन्हें सच्चे हितैषी जान-समझकर भी लोग वैसा स्थिर भाव नहीं रखते, जैसा कि पत्थर की प्रतिमा में। इसका कारण यही है कि वहाँ अत्यंत निरपेक्षता है। नितांत निस्पृह भाव है। हर दर्जे की स्थिरता, निश्चलता है। आज यदि बालाजी की प्रतिमूर्ति किसी का मानापमान स्वीकार करने लगे, तो

सच जानो, आज ही श्रद्धा उठ जाय !" इतना कहकर सरला सत्य का मुँह निहारने लगी।

सत्यव्रत का मन न-जाने कहाँ-कहाँ भटक रहा था। कॉलेज की भारी-भारी पोथियों में जो कुछ न मिला था, वह उसे झरने की बूँदों पर लिखा दिखाई देने लगा। वह आज सरला से ब्याह का प्रस्ताव करने की—उसे हृदय से लगाने की लालसा से यहाँ आया था, पर उसके जी में ऐसा होने लगा कि इस देवी के चरणों में अपने हृदय के सारे पुष्प बिखेर देना चाहिए। सरला सचमुच उससे बहुत ऊँचे पद पर प्रतिष्ठित है। सत्य के मन में ऐसा बोध होने लगा कि सरला से ब्याह का प्रस्ताव करना उसका अपमान करना है। सत्य स्तब्ध, नीरव बैठा रहा।

सरला ने कहा—"क्यों सत्य ! चुप क्यों हो ? क्या तुम्हें मेरे वचन पर प्रतीति नहीं होती ?"

सत्य ने तुरंत ही हड़बड़ाकर कहा—"नहीं-नहीं, सरला, कभी नहीं।"

सरला बोली—"तो तुम चुप क्यों हो ? क्या तुम्हें भी मेरे भाँति आत्मग्लानि हुई है ? बोलो ! मैं जानती हूँ, तुम उच्च हृदय के अधिष्ठाता हो।"

सत्य ने कहा—"सचमुच आत्मग्लानि तो हुई है, पर तुम्हारी तरह विशाल भावों से नहीं। सरला, तुम्हारी-मेरी क्या तुलना ? जब तुम झरने के साथ अपनी तुलना कर रही थीं,

तब मैं तुम्हारे साथ अपनी तुलना कर रहा था। मेरे हृदय की तुम प्रशंसा कर रही हो, पर तुम उसे जानती ही नहीं; वह तो अत्यंत क्षुद्र है, जो गुरु है, जो शिक्षक है, जो महान् है, उसे वह केवल विनोद की सामग्री समझता है। देवी! जिसको तटस्थ होकर पूजा करनी चाहिए, उसे वह सेवा में लेना चाहता है। दयामयी! इसकी शांति का तुम उपाय नहीं कर सकतीं क्या? यह व्याकुलता, यह अतृप्ति असह्य तो है, पर एक अनिर्वचनीय सुख इसमें मिलता है। इस सबका अर्थ क्या है?"

सरला ने अत्यंत स्नेह से युवक का हाथ पकड़कर कहा—"शांत होओ सत्य! शांत होओ। मैं तुम्हारा मतलब समझ गई हूँ! पर इतनी आत्मप्रतारणा की जरूरत ही क्या है? देखो, मनुष्य वासनाओं का दास है। उसमें फँसना कुछ अप्राकृतिक नहीं। उस पर विजय पाना वीरता है। आओ, हम सब उस पर विजय पाने की प्रतिज्ञा करें।"

"पर सरला! क्या प्रतिज्ञा-मात्र से ही विजय मिल जायगी?"

"नहीं, उसके लिये हमें अध्यवसाय, परिश्रम और आत्मत्याग का निरंतर अभ्यास करना होगा।"

"अच्छा, मैं वही करूँगा, पर यह वासना-चाहना बनी क्यों है?"

सरला ने सत्य के मुख पर दृष्टि गड़ाकर कहा—"चाहना बुरी नहीं है सत्य! जिनका हृदय सुंदर होता है, वे ही चाहना करते हैं।"

युवक का चेहरा खिल उठा। उसने अधीर होकर कहा —
"तो तुम उसी की निंदा क्यों करती हो ?"

"तुम समझे नहीं। चाहना में वासना बुरी है। उसमें स्वार्थपरता बुरी है। हमें उसी का उन्मूलन करना चाहिए।"

"क्या कहती हो, समझा नहीं।"

"अच्छा देखो, स्वच्छ सरोवर के बीचोबीच एक प्रफुल्ल कमल खिल रहा है। चारो ओर मोती-सा जल हिलोरें ले रहा है। उन लहरों में सुनहरा सूरज चमक रहा है। बीच में हरे-हरे पत्तों के झुरमुट में कमल खिल रहा है। झंझा वायु से उसकी पँखड़ियाँ हिल रही हैं। भौंरा उन्मत्त हो गुनगुनाता चारो ओर नाचता फिर रहा है। देखो, यह कैसा सौंदर्य है, जो इसे न चाहे, वह मनुष्य नहीं, पत्थर है। उसके हृदय ही नहीं है।"

सरला ने इतना कहते-कहते देखा, युवक का मुँह उत्साह से दमक रहा है। उसने फिर कहना शुरू किया—

"जो इसे न चाहे, वह निस्संदेह पत्थर है; पर वह पत्थर से भी कठोर है, जिसने, चाहना में स्वार्थ और आत्मलिप्सा का संयोग कर लिया है, जिसने उसकी शोभा की, सौंदर्य की कुछ भी परवा न करके उसे वहाँ से तोड़कर अपने विलास में रख लिया है। देखो, सरोवर फीका पड़ गया—भौंरा व्याकुल होकर उड़ गया। कमल की नाल मुरझा गई, पत्ते सड़ गए, और अब वह पुष्प भी अकाल ही में मुरझा गया। अब वह

उस विलासी को भी प्रिय नहीं है। मोरी में पड़ा सड़ रहा है। पँखड़ियों को कीड़े खा रहे हैं। यह सब चाहना के साथ स्वार्थ का संयोग करने का फल है। तुम्हीं बताओ सत्य, क्या वे हाथ प्यार करने के योग्य हो सकते हैं, जो ऐसा कठोर व्यवहार कर सकते हैं, जिन्हें ऐसे सौंदर्य को छिन्न-भिन्न करने का साहस हो सकता है? वे चाहक नहीं हैं, चाहना का फल उन्हें नहीं मिल सकता।" इतना कहकर सरला चुप हो गई। इस बार उसने जो युवक के मुख को देखा, तो उस पर अब उत्साह नहीं था। आँखें निष्प्रभ हो रही थीं, पर मुख पर शांति-श्री का अभाव नहीं था। भर्राई हुई आवाज़ से उसने कहा—"पर जो वस्तु जहाँ के योग्य है, उसे वहाँ न स्थापित करना भी तो अन्याय है।"

सरला ने अत्यंत नम्रता से कहा—"नहीं सत्य! भूल करते हो। हमारा निर्वाचन उस संसार के स्वामी से कदापि अच्छा नहीं हो सकता। कहाँ कौन वस्तु अच्छी लगती है, इसका ज्ञान तो हम धीरे-धीरे उसी के संकेत से लाभ करते हैं। इसके सिवा जब हमारी स्वार्थ-साधना प्रबल हो जाती है, तब हमें कौन वस्तु कहाँ अच्छी लगेगी, इस पर विचार ही कब करते हैं? हम चाहे जैसे अपात्र हों, उत्तम-से-उत्तम वस्तु को अपनाना ही चाहते हैं, मनुष्य का स्वभाव ही कुछ ऐसा है।"

युवक ने कुछ लज्जित होकर कहा—"तो कौन किसके योग्य है, इसका भी तो कुछ निश्चय होना चाहिए।"

"कुछ भी नहीं, केवल स्वार्थ-त्याग हो, स्वत्व का ह्रास हो, तो अधम-से-अधम भी महान्-से-महान् का चाहक बन सकता है। उसमें कोई अवहेलना नहीं है, कोई असमता भी नहीं है। भौंरे से कमल की क्या समता है? शबरी से राम की क्या समता है?" युवक की गर्दन झुक गई। लाज से उसका मुख लाल हो आया। उसने देखा—सचमुच मुझ-सा अधम कोई न होगा। ऐसी पवित्रता की मूर्ति को, ऐसे देवोपहार योग्य कुसुम को मैं अपनी लीलावर्ती विलास की सामग्री बनाना चाहता हूँ? छिः! छिः! युवक उठ खड़ा हुआ। उसके उद्वेग-पूर्ण नेत्रों को देखकर सरला ने कहा—"ऐसा क्यों? बैठो, ऐसी अस्थिरता क्यों? तुम तो—"

बात काटकर युवक ने कहा—'महामहिमामयी, तुम्हें प्रणाम करने को जी चाहता है। मैं नरक का कीड़ा तुम्हारे आँचल के स्पर्श के भी योग्य नहीं हूँ।"

सरला ने उसका हाथ पकड़कर जल्दी से कहा—"छिः! फिर आत्मप्रतारणा! मैं क्या तुम्हारे पूजा के योग्य हूँ? देखो, मेरे पास जो कुछ है, उसे तुम न ले सकते हो, और न मैं दे सकती हूँ। पर देखो पानी के बुलबुलों को—"

सत्य ने बात काटकर कहा—"मुझे और कुछ न चाहिए। तुमने आज जो कुछ दिया है, वही बहुत है। अच्छा, मैं आ-जन्म इसी व्रत का पालन करूँगा। पर क्या प्रभु हमारी आत्मा को दृढ़ बनावेंगे?"

"अवश्य। सामने के झरने को ही देखो, वह कैसी निर्भीकता और स्थिरता से बह रहा है। इस इतने ही काल में हमारे कितने विचार परिवर्तित हो गए, पर वह पूर्ववत् ही है। ऐसा ही आत्मविश्वास हममें होना चाहिए।"

"भगवान् ऐसा ही करें।" अत्यंत कातरता से युवक ने कहा—"ठीक है, आज से यही हमारा दीक्षा-गुरु हुआ। आओ, हम भक्ति-पूर्वक इसे प्रणाम करें।" यह कहकर सरला घुटने के बल बैठ गई, और उसका चाँदी के समान स्वच्छ मस्तक उस हरी-हरी घास पर झुक गया। सत्यव्रत ने भी मंत्र-मुग्ध की तरह सरला का अनुकरण किया। सूरज अब बहुत ऊँचा चढ़ आया था, और धूप फैल गई थी।

पाँचवाँ परिच्छेद

इस दिन के बाद सरला और सत्य में अजीब परिवर्तन हो गया। सरला आठो पहर सत्य के साथ रहती, पर वह सरला के लिये सदा व्याकुल रहता था। उसका हृदय कुछ और ही चाहता था। वह जानता था कि वह जो कुछ चाहता है, वह उपयुक्त नहीं है, पर उससे रहा नहीं जाता था। वह चाहे जितना व्याकुल होता, छटपटाता, तरसता, पर सरला के सामने एक शब्द भी नहीं कहता था। जब सरला कहीं दूसरी ओर देखती, तो सत्य एकटक उसकी मधुरिमामयी मूर्ति देखा करता; पर ज्यों ही वह उसकी तरफ़ देखती, उससे देखा ही नहीं जाता—उसकी आँखें सब ओर से थककर धरती पर आ टिकती थीं। सरला सब कुछ जानती थी। वह सत्य की आँखों में एक ऐसी प्यास देखती थी कि उसे देखकर सरला का हृदय पसीज उठता था। यद्यपि उसका उपाय उसके पास था, वह उसे अपना प्रणय-दान देकर सुखी कर सकती थी, पर उस ओर उसकी प्रवृत्ति ही नहीं थी। उसके मन में कभी ऐसा आया भी नहीं कि हमारा उससे ब्याह होना संभव भी है। उसने प्रणय के स्थान में अपनी कृपा, दया, सहानुभूति और अनुग्रह का द्वार खोल

दिया था। यह बात है तो अनोखी, पर इस पर आश्चर्य नहीं करना चाहिए। बात यों थी कि ब्याह के लालच का गुरुत्व वास्तव में उसे ज्ञात ही न था। अस्तु। सत्य के प्रसन्न करने को वह जितने उपाय करती, वे सब निष्फल होते। सत्य भी बहुत कुछ प्रसन्न रहना चाहता, पर संसार में केवल चाहने से ही किसी को सब कुछ थोड़े ही मिल जाता है—भाग्य चाहिए, बल चाहिए, योग्यता चाहिए और त्याग चाहिए। सत्य अवसर पाते ही एकांत में उसी झरने के किनारे, उसी शिला पर बैठा सरला की चिंतना किया करता था।

सर्दी के दिन थे, दोपहर ढल चुका था। सरला खड़ी-खड़ी नाँद में कपड़े खँगार रही थी, और सत्य सामने के छप्पर में गायों के लिये चरी काट रहा था। इतने में एक घोड़ा-गाड़ी द्वार पर आकर खड़ी हो गई। सरला ने यों ही भीगे हाथ जाकर देखा कि एक महिला गाड़ी से उतर रही है। उसका मुख भारी और रुआबदार था। शरीर जड़ाऊ आभूषणों से सज रहा था। उसके बढ़िया वस्त्र और सामग्री देखने से वह कोई बड़े घर की स्त्री मालूम होती थी। अवस्था इसकी कोई ४० वर्ष की होगी। सरला ने आदर-पूर्वक उसका स्वागत करना चाहा, पर उस रमणी की ज्यों ही सरला पर दृष्टि पड़ी, त्यों ही दौड़कर उसने उसे गोद में उठा लिया। सरला से न बचाव करते बना और न

इनकार करते। सब-के-सब दालान में आए। योग्य आसन पर बैठने पर सरला ने अत्यंत मधुर भाव से पूछा—"माननीया देवी, आप कौन हैं, और इस झोपड़ी को पवित्र करने की कृपा क्यों हुई है? क्या आदेश है, आज्ञा कीजिए।"

रमणी अभी तक निर्निमेष दृष्टि से सरला का मुख ताक रही थी। उसने आर्द्रभाव से कहा—"सरला, मुझे तुझे ही अपना परिचय देना होगा?"

सरला डर गई। शायद उससे कुछ असभ्यता हो गई हो। उसने हाथ जोड़कर पूछा—"क्षमा करो दयामयी, अनजान में अपराध हो गया हो तो। हम गाँव के लोगों को वैसी बातचीत की सभ्यता नहीं आती।"

रमणी से न रहा गया। उसने सरला के दोनो हाथ पकड़कर उसे अपनी गोद में खींच लिया और कहा—"बेटी, यही अभागिनी तेरी मा है।" सरला चौंक पड़ी। धीरे से उसने उसके बाहु-पाश से अपने को बाहर निकाला, और वह एकटक उसके मुख की ओर देखने लगी। कुछ देर ठहरकर उसने पूछा—"मेरी मा?"

"हाँ सरला।"

"नहीं देवी, ऐसी बात क्यों कहती हो? आप राजरानी हैं। आपकी लड़की इस जंगल के झोपड़े में क्यों आने लगी! इस अभागिनी ने तो अपनी मा को आज तक एक बार भी नहीं देखा। इसकी मा संसार में होती, तो क्या

वह एक बार भी अपनी दुधमुँही बालिका को याद न करती ?"

रमणी ने ठंडी साँस भरकर कहा—"भाग्य में यही लिखा था। जब तू ७ दिन की थी, तभी तेरे बाप से झगड़ा हो गया था। उस दिन आँधी-पानी का ज़ोर था। उसी समय तेरा बाप तुझे घोड़े पर लेकर चल दिया था। तब से आज तक उसकी सूरत नहीं देखी।"

सरला ने देखा, रमणी का चेहरा एक कटु विषाद में डूब गया है। उसकी आँखों में आँसू भर रहे हैं।

सरला बोली—"यह क्या! पिता अब तक तुम्हें नहीं मिले, तो वह गए कहाँ ?"

रमणी—"हाँ, तब से आज तक उनका पता नहीं लगा कि कहाँ हैं। पर तेरे मुख में उनकी छाया देखकर वे सारी बातें हरी हो गई हैं। इस बीच में मैं बहुत ढूँढ़ चुकी, पर प्रयत्न सफल नहीं हुआ।"

इतना कहकर उसने अपने आँसू पोंछ डाले। सरला ने तनिक विस्मय से कहा—"पर आपके शरीर पर तो मैं सुहाग के पूरे चिह्न देखती हूँ।"

इस बात से रमणी लज्जा से कुछ सिकुड़-सी गई। उसके ललाट पर पसीना छा गया। उसने सामने की भीत पर नज़र डालते हुए कहा—"पर इसमें मुझे कुछ भी सुख नहीं है। यह न होता, तो ही ठीक होता।"

सरला ने कुछ आग्रह से कहा—"किंतु मेरा प्रश्न कुछ और ही है।"

उस रमणी ने बात काटकर कहा—"बेटी, मैं बड़ी अभागिनी हूँ, महादुःखिनी हूँ। हाय! मेरी बात क्या कहने योग्य है। मैं बड़ी पापिनी हूँ। वे बातें काँरपने की हैं। जब तुम्हारे बाप का कुछ पता न चला, तो मेरे पिता ने मेरा अन्यत्र व्याह कर दिया। मेरे पति एक नगर के प्रसिद्ध धनी हैं।"

उसका यह प्रलाप किसान के करौंत की तरह कर-कर करता हुआ सरला के सरल हृदय को इस पार से उस पार चीरता हुआ चला गया। उसने रमणी की ओर से मुँह फेर लिया। रमणी ने उसका यह भाव ताड़कर कहा—"बात तो घृणा ही की है, पर अब घृणा करने से ही क्या होगा? उसके लिये मैंने क्या-क्या न किया। जो नहीं है, उसकी बात क्या? बड़ी कठिनता से तुम्हारा पता पाकर आई हूँ।"

सरला ने कुछ विरक्त होकर कहा—"क्यों आई हो? इतनी कृपा की तो कुछ आवश्यकता नहीं थी।"

रमणी ने कुछ खिन्न होकर कहा—"सरला! तुझे अपनी मा का जन्म में एक बार आना भी खटक उठा? तुझे—"

सरला ने बात काटकर कुछ उपेक्षा के स्वर में कहा—"नहीं, खटक क्यों उठता? आई हो, तो स्वागत है, पर अब इस बात के कहने में ही क्या है कि तुम मेरी मा हो।"

"क्यों? यह बात सुनकर क्या तुझे कुछ भी सुख नहीं हुआ?"

"कुछ नहीं। मेरी धारणा थी कि मेरी स्नेहमयी जननी इस संसार में नहीं है। यदि होती, तो क्या अपने पेट की बेटी को एक बार भी याद न करती? मेरी मा तो हो ही नहीं सकती। पर अब यह मेरी धारणा निर्मल हो गई। जैसा कि तुम कहती हो, मेरे पिता के तो मरने-जीने का कुछ भी ठिकाना नहीं है, और मेरी मा, मेरे ही सामने बैठी हुई है। वह सुहागिन, सुखी और एक प्रसिद्ध धनी की स्त्री है।"

सरला का मुँह तमतमा आया। आज से प्रथम किसी ने उसे ऐसी उत्तेजित न देखा था। उसका दम घुटने लगा। इतना कहकर वह उठ खड़ी हुई।

रमणी बहुत ही अन्यमनस्का हो रही थी। तिस पर भी उसने सरला का हाथ पकड़कर कहा—"सरला! बैठ जाओ। अपनी माता का अपमान मत करो। अपने कर्मों पर मुझे स्वयं अनुताप है। फिर मैं चाहे जैसी हूँ, पर तुम मेरी ही वस्तु हो। तुमने बड़ा कष्ट पाया है। अब मैं तुम्हें अपने घर ले चलूँगी। वहाँ चलकर सुख से रहना।"

सरला ने नीचे सिर झुकाकर कहा—"तुम्हें अनुताप है, यह तो बड़ी ख़ुशी की बात है; पर तुम्हारा मुझ पर स्वत्व कैसे है? तुमसे भी अधिक इस झोपड़ी का, इन पशु-पक्षियों का, इन खेतों का और उस युवा का मुझ पर स्वत्व है।"

सामने ही सत्य बैठा था, और अपना काम कर रहा

था। 'उस युवा का स्वत्व है,' यह बात उसके कान में पहुँचते ही वह एक ही छलाँग में वहाँ आ खड़ा हुआ, और सरला से बोला—"सरला, ये देवी कौन हैं ?"

सरला ने कहा—"यह एक बड़े घर की रमणी हैं।"

रमणी ने कहा—"मैं सरला की मा हूँ। इसे अपने घर ले जाने को आई हूँ।"

सत्य निर्निमेष दृष्टि से सरला को निहारने लगा।

सरला ने कहा—"मेरी सच्ची मा तो यह धरती है। मुझे इसकी गोद में जो सुख है, वह तुम्हारे महलों में न मिलेगा। अच्छा, आओ, मेरा आतिथ्य स्वीकार करो, जो रूखा-सूखा है, भोजन करो, और विश्राम करो।"

प्रौढ़ा ने उदासीनता से कहा—"मेरी बेटी होकर तू ग़ैरों की-सी बातें करती है। इसे देखकर बड़ा दुःख होता है। तू—"

बीच में ही बात काटकर सरला बोली—"देवी, सचमुच मैं तुम्हारी बेटी नहीं हूँ। इस बात को भूल जाओ।"

"तो क्या तू मेरे साथ न चलेगी ?"

"कहाँ ?"

"मेरे घर।"

"यह भी तुम्हारा ही घर है।"

"यह झोपड़ी मेरा घर नहीं है, वह महल है।"

"वह तुम्हारे पति का घर है ?"

"हाँ।"

"नहीं चलूँगी।"

"क्यों?"

"क्यों क्या? उसमें मेरा क्या है? मैं जहाँ प्रसन्न हूँ, वहीं रहने दो। कुछ मेरे जाने से तुम्हारा सुख तो बढ़ न जायगा? मैं तुम्हारी वैसी आवश्यक सामग्री होती, तो १६ वर्ष से याद न आती? मेरे बाप के साथ मुझे भी भुला दो।"

"नहीं।"

"तुझे मेरी ममता कुछ नहीं है?"

सरला ने स्थिर होकर कहा—"नहीं।"

अब रमणी क्षण-भर भी न ठहरी। वह उस अपमान को लेकर उलटे पैरों चल दी। सत्य और सरला दोनों ने उसे कुछ जल-पान करने को कहा; पर उसने न एक शब्द कहा; और न उनकी बिनती ही सुनी।

छठा परिच्छेद

उसी दिन से सरला अत्यंत क्षुब्ध रहने लगी। अब उसका कहीं भी जी नहीं लगता। वह सोचती है--संसार में कैसे-कैसे नीच प्राणी हैं। उनमें सबसे अधिक नीच मेरी ही मा है। हे भगवान् ! कहाँ तो वह समाधिस्थ महात्मा, और कहाँ मेरी माता ? सरला इसी एक बात को सोचते-सोचते बेचैन हो जाती। इधर यह सोच, उधर सत्य की विषाद मूर्ति, इस पर भी उसके अत्यधिक स्नेह-भाजन लोकनाथ का अभाव; और यह ज्ञान कि यह मेरा घर नहीं है, मेरा वास्तविक पिता जाने कहाँ है। कैसा है। इन सब बातों का प्रभाव उस पर ऐसा पड़ा कि उसने चुपचाप वहाँ से चल देने की ठान ली। कुछ काल तक उसके हृदय में संकल्प-विकल्प का घोर युद्ध होता रहा। जीवन-भर की ममता को तोड़ना उसके सरल और कोमल हृदय के लिये बहुत ही कठिन काम था। पर अंत में एक दिन वह आवश्यक सामान लेकर चल ही दी। उस समय सूर्य पश्चिम में डूब रहा था, और पद-पद पर अंधकार बढ़ रहा था। उसका जाना किसी को भी ज्ञात न हुआ। सरला आज उसी अँधेरे में मिल गई। गाँव से स्टेशन दो मील था। जब सरला वहाँ पहुँची, गाड़ी

आने में देर न थी। गाड़ी आई, और सरला प्रयाग का टिकट लेकर गाड़ी में जा बैठी। गाड़ी भीषण वेग से चल दी।

आज सरला की आत्मा में अपूर्व आंदोलन हो रहा है। आज से प्रथम उसका मुख सदा बाल-सुलभ सरलता से भरा रहता था, पर आज उस पर कुछ ऐसी गंभीरता आ गई है, मानो वह बुढ़िया हो गई हो, और इसमें कुछ भी आश्चर्य नहीं था। सरला-जैसी रमणी असहाय, अकेली विदेश में निकली है, जहाँ उसका कोई नहीं। रह-रहकर उसका चित्त उद्विग्न होता है, और चिंता की छाया उसके मुख पर स्पष्ट दिखलाई पड़ती है।

जिस डिब्बे में सरला बैठी हुई अपने अँधेरे भविष्य की बात सोच रही थी, उसी में एक सज्जन बैठे हुए थे। उनकी अवस्था ४५ वर्ष के लगभग होगी। वह बड़े संभ्रांत और शिष्ट ज्ञात होते थे। सरला को निरंतर चिंता-मग्न देखकर उन्होंने कहा—"देवी! कहाँ जाना है?"

सरला ने उनकी ओर तनिक झुककर कहा—"प्रयाग।"

"प्रयाग! वहाँ क्या कोई तुम्हारा संबंधी है?"

"नहीं!" यह कहकर सरला एकटक उन भद्र पुरुष की ओर निहारने लगी।

उन्होंने फिर पूछा—"फिर कोई आवश्यक काम है क्या?"

"नहीं।"

उन्होंने चकित होकर कहा—"तो वहाँ तुम्हारा कोई परिचित भी नहीं है ?"

"नहीं।"

"तो वहाँ इतने बड़े नगर में तुम अकेली किसके यहाँ जा रही हो, तुम्हारा घर कहाँ है ?"

"मेरा घर वसंतपुर में है। संसार में अकेली हूँ। मेरा कोई नहीं है। सुना है—प्रयाग बड़ा नगर है। वहाँ किसी भले घर के बालकों को पढ़ाने-लिखाने की सेवा मिल जायगी, तो उदर-पूर्ति हो जायगी, इसी विचार से वहाँ जा रही हूँ।" यह कहकर सरला सापेक्ष भाव से उन पुरुष की ओर देखने लगी।

उन्होंने पूछा—"तुम जाति की कौन हो ?"

सरला ने सरलता से कहा—"मनुष्य।"

"मनुष्य ! मनुष्य तो सभी हैं।"

"हाँ, मैं भी वही हूँ।"

"किंतु तुम्हारा कुल-गोत्र भी कुछ है ?"

"होगा, उससे मेरा कुछ संपर्क नहीं, और न वैसा कुछ वह आवश्यक है।"

"तुम्हारा धर्म क्या है ?"

"अनुराग और सेवा।"

वह पुरुष स्तंभित हो गए। उन्होंने देखा, यह कन्या बड़ी ही विचित्र है। इतनी बड़ी तो हो गई, पर कुमारपने की

मिठास इसके मुख पर विराजमान है, और एक ऐसी प्रतिभा, श्री और माधुर्य इसके नेत्रों में है कि कहा नहीं जाता। उन्होंने देखा, इसके मुख से जो बात निकलती है, वह अद्भुत और नई होने पर भी हृदय के अंत तक घुस जाती है। मुख से मानो फूल बरसते हैं। कुछ देर तक देखते रहकर उन्होंने कहा—"तुम्हारा नाम क्या है देवी ?"

"सरला।"

"सरला नाम उचित ही है। अच्छा सरला ! मेरा घर भी वहीं प्रयाग में है। जब तक तुम्हारा कोई दूसरा प्रबंध न हो, उसे अपना ही घर जानो, मेरे घर में मेरी माननीया बड़ी बहन हैं। वह तुम्हारी पुत्रीवत् पालना करेंगी। उनके भी कोई नहीं है। वह,आजन्म ब्रह्मचारिणी हैं। मेरी समझ में उनकी दयामयी गोद तुम्हें सुखद ही होगी।"

सरला ने शांति से कहा—"आपकी यह कृपा सिर-आँखों पर ; पर मुझे वहाँ क्या सेवा करनी पड़ेगी ?"

"कुछ नहीं। जैसे अपने घर में रहती हो, वैसे ही रहना। पुस्तक-अवलोकन की उन्हें बड़ी रुचि है। देखता हूँ, उधर तुम्हारी भी खूब प्रवृत्ति है।"

सरला ने स्वीकार-सूचक सिर हिला दिया। उसकी आँखें ऊपर आकाश की ओर उठीं, और अत्यंत गुप्त भाव से उसने उस जगत्पति को प्रणाम कर लिया। वह भद्र पुरुष एकटक सरला के मुख को तक रहे थे। उन्होंने देखा, उसकी आँखें

भर आई हैं। उन्हें ऐसा मालूम होने लगा, मानो यह मानुषी नहीं, कोई देव-कन्या है। न-जाने क्यों उनकी ऐसी इच्छा हुई कि इसे प्रणाम करना चाहिए। इतने ही में सरला ने उन्हें देखकर कहा—"मान्यवर! आपको धन्यवाद देने को जी होता है।" उसे आत्मविस्मृति-सी हो रही थी। उससे आगे कुछ भी कहते न बना। गाड़ी बराबर चल रही थी। प्रयाग आ पहुँचा, दोनो उतर पड़े।

सातवाँ परिच्छेद

शारदादेवी की अवस्था ५० वर्ष के लगभग होगी। सरला ने अभी ग्रामों के प्राकृतिक दृश्य देखे थे। उसी मूक और कठोर सौंदर्य पर वह मुग्ध थी; पर शारदा को देखकर सरला भौचक-सी रह गई। शारदा की आयु अधिक तो अवश्य थी, पर उनके मुख पर जो तेज, जो छवि, जो लावण्य था, उससे घर-भर दिप रहा था। गोसाईं तुलसीदास कह गए हैं—"नारि न मोह नारि के रूपा।" पर सरला सचमुच मोहित हो गई थी। कुछ सरला ही नहीं, वह देवी भी अन-जान सरला को देखकर न-जाने किस कारण अपने हृदय में ऐसा अनुभव करने लगीं, मानो इसकी ओर प्राण खिंच रहे हैं। वे व्याकुल हुए जाते हैं। रहा नहीं जाता। जैसे जंगल से आती हुई गाय बछड़े की तरफ़ रस्सा तोड़कर दौड़ती है, वैसे ही उन देवी की आत्मा सरला की ओर खिंचने लगी। उन्होंने सरला से पूछना चाहा—सुभगे! तुम कौन हो? और कहाँ से इन नेत्रों को तृप्त करने आई हो? आओ, तुम्हारा स्वागत है। पहले मेरी गोद में बैठो। और उधर सरला के मन में भावना उठ रही थी—यही उन सज्जन की श्रीमती भगिनी हैं। इन्हें प्रणाम करना चाहिए। किंतु न उनसे

स्वागत करते बना, न इससे प्रणाम। क्या जाने किस अतर्क्य शक्ति ने कैसी चुंबन-शक्ति उत्पन्न कर दी। पलक मारते ही दोनो के हृदय मिल गए, भुजाएँ गुँथ गईं। न उनमें चेष्टा है, न गति। बाबू सुंदरलाल अभी बैठक में असबाब ही रख रहे थे। अब वह बहन को सरला का परिचय देने के लिये जो भीतर आए, तो क्या देखते हैं कि वे दोनो पवित्र पुष्प परस्पर गुँथकर अपूर्व शोभा बढ़ा रहे हैं। परिचय देने से प्रथम ही, दो ही चार मिनट में, वे दोनो आत्माएँ ऐसी मिल गईं, मानो कितने युगों से दोनो को दोनो की प्यास थी!

कुछ देर स्तब्ध रहकर सुंदरलाल बाबू बोले—"बहन! इन देवी को क्या तुम प्रथम से ही जानती हो?"

दोनो की निद्रा भंग हो गई। दोनो ने नेत्र उठाकर उनकी ओर देखा, और तनिक कुंठित-सी होकर दोनो अलग-अलग हो गईं।

सुंदर बाबू ने देखा, दोनो के नेत्र में एक अतृप्त अनुराग रँग गया है। वह अपने प्रश्न के उत्तर के लिये बहन को देखने लगे।

शारदादेवी बोलीं—"नहीं भाई! इन्हें कहाँ देखा है, सो कुछ याद नहीं, पर ऐसा मालूम होता है कि हम इन्हें पहचानती हैं। सचमुच कभी इन्हें देखा नहीं, पर इस समय मेरा जी जैसा कुछ होता है, वैसा कभी नहीं हुआ था। मुझसे खड़ा

नहीं रहा जाता।" इतना कहकर उन्होंने सरला का आँचल पकड़कर कहा—"बैठ जाओ, तुम कौन हो, कहो तो ?"

बीच ही में सुंदर बाबू बोल उठे। उन्होंने कहा—"देखो बहन! रेल में इन्हें देखकर मेरे हृदय में भी यही भाव उदय हुआ था, मानो यह अपनी ही हैं। मैं तो अपना मन न रोक सका। मेरे मन में आया, हठात् इन्हें घर ले चलूँ। पीछे जब इनसे बातचीत हुई, तो यह देवी अनुग्रह-पूर्वक तैयार हो गईं। हमारे भाग खुल गए प्रतीत होते हैं। एक क्षण में ही देखो घर कैसा हो गया!"

शारदा अभी सरला को एकटक देख रही थीं। उन्होंने कहा—"मेरा मन जी उठा। ऐसा सुख जीवन में मुद्दत से नहीं मिला। यह देवी हैं कौन ? क्यों देवी! तुम कौन हो ?" सरला भी एक अनोखे भाव में आप्लावित हो रही थी। पराए घर में एकदम इतना स्वागत! उसने कहा—"कौन हूँ, इसको क्या कहूँ ? आपके सम्मुख कुछ बनने को जी नहीं चाहता। आप जो बनावेंगी, वही बन जाऊँगी!"

सरला की वाणी, उसका भाव, उसका मस्तिष्क, उसका हृदय एक साथ शारदा को भा गया। उनसे कुछ कहा भी न गया, देखती ही रह गईं। कुछ लज्जित-सी होकर सरला ने कहा—"आपको क्या मेरे वचन पर प्रतीति नहीं होती ? स्नेहमयी देवी! आपका स्नेह-कवच मिल जाय, तो आपकी सेविका बनने में सौभाग्य ही है।"

बीच ही में शारदा बोलीं—"तुम मेरे हृदय की दुलारी बन-कर रहो। हमीं तुम्हारी सेवा करके सफल होंगे। इस जन्म में तुम्हें देखा हो, सो तो याद नहीं, किसी और ही जन्म का संबंध है।"

सरला ने अत्यंत स्नेह से कहा—"आप किसी जन्म की मेरी मा तो नहीं हैं ?"

"मेरा ऐसा सौभाग्य ! ऐसी स्वर्गीया देवी की माता बनना क्या साधारण बात है ?" यह कहकर शारदा तनिक मुस्करा दीं।

सरला ने देखा, उस मुस्किराहट में कुछ भी मिठास नहीं है। उसके बाद ही शारदा ने कहा—"अच्छा, कपड़े बदलकर हाथ-मुँह धो डालो, फिर कुछ जल-पान करना।"

सुंदर बाबू कमरे से बाहर नहीं गए थे। वह दीवार पर लगे हुए एक चित्र को बड़े ध्यान से देख रहे थे। शारदा की भी उधर नज़र उठ गई। उन्होंने भी चित्र पर दृष्टि डाली। न-जाने किस स्मृति का उदय हो आया। एक बार वह सुन्न हो गईं। इसी समय सुंदर ने उनकी ओर मुँह फेरकर कहा—"कैसे अचरज की बात है बहन ! देखो, भूदेव के समान ही सरला की आकृति है। और उसके नेत्र तो मानो वही हैं।" शारदा के पसीना आ गया। इस बात को सुनते ही उसके हृदय में एक ऐसा ज्वार आया कि उनका सिर चकराने लगा। उनसे खड़ा न रहा गया। उन्होंने दीवार थाँभ ली।

कुछ ठहरकर उन्होंने कहा—"यह क्या कहते हो ? इस समानता का कुछ भी मेल नहीं है !"

"नहीं तो बहन ! तनिक देखो तो। रेल में सरला को देखकर ऐसा हुआ था, मानो इस सूरत का आदमी कहीं देखा है। पर कहाँ देखा है, सो कुछ याद न आता था। अब समझा, भूदेव ही का चेहरा आँखों में फिर रहा था। ये आँखें तो बहुत ही परिचित हैं। आह ! इन आँखों के साथ तो वर्षों खेला हूँ। भूदेव ! न-जाने तुम्हारी आत्मा कहाँ पड़ी तड़प रही होगी। हमें विश्वास है कि तुम चाहे कहीं होओ, पर हमें न भूले होगे।" यह कहकर उन भद्र पुरुष ने एक लंबी श्वास ली, और कमरे में टहलने लगे। प्रत्यक्ष दिखलाई पड़ता था कि इस समय पसलियों के नीचे उनका हृदय अत्यंत बेचैन है। उसी दशा में वह कमरे से बाहर निकल गए।

शारदा खिड़की की राह बाहर मैदान की ओर शून्य दृष्टि से देख रही थीं। वास्तव में उनके मन में भी वैसी ही भावनाएँ उदय हो रही थीं। उनके विचार उनके भाई से ज्यों-के-त्यों मिलते थे, पर उनका साहस उस चित्र को देखने का न होता था।

सरला ने देखा, जो मुख आनंद का उद्गम था, उस पर प्रबल विषाद की छाया विराजमान है। यह कैसा चित्र है, जिसका ऐसा प्रभाव है ! उसने उठकर उस चित्र पर एक दृष्टि डाली।

चित्र जिस पुरुष का था, उसकी अवस्था २६ वर्ष के लगभग होगी। यह चित्र तैल का बना हुआ था। पर ऐसा बना था, मानो कागज़ से मूर्ति निकल आना चाहती है। जिस पुरुष का यह चित्र है, उसका मुख सचमुच ही ऐसा हो, तो निस्संदेह उसकी छवि अनोखी ही होगी। उस पर लिखा था—'भूदेव चित्रकार'। सरला सोचने लगी—आख़िर यह भूदेव चित्रकार है कौन? उस चित्र में न-जाने कैसा जादू था कि सरला ज्यों-ज्यों उसे ध्यान से देखती, त्यों त्यों उसे तृप्ति न होती थी। यह चित्र बहुत पुराना था। उसने अनुमान किया, यदि आज यह पुरुष जीता होता, तो ५० या ५५ वर्ष का होता। ईश्वर की माया अपार है।

इस चित्र के लिये सरला के प्राण भी व्याकुल होने लगे। उसे यह पुरुष कौन है, यह जानने की लालसा हो गई। यही बात पूछने के लिये वह शारदादेवी के पास गई; पर उनका मुख हाय! ऐसा करुणाकर हो गया था कि सरला से कुछ पूछते न बना।

सरला ने मधुर स्वर से कहा—"माननीया देवी, मैंने आपके घर में आकर आपको न-जाने किस अज्ञात विषाद में डाल दिया है। मुझे कुछ भी नहीं सूझता कि आपके कष्ट में मैं कैसे सम्मिलित होऊँ। आपके कष्ट को जान पाती, तो......"

सरला की बात मुँह में ही थी कि शारदा ने पगली की

भाँति उसे छाती से लगा लिया। बड़ी देर बाद धीरे-धीरे सरला ने अलग होकर देखा, शारदा की आँखें लाल हो आई हैं, और उनकी धारा रोके नहीं रुकती।

सरला भी चुप थी। तनिक ठहरकर शारदा बोलीं—"मैं देखती हूँ, मेरे दुःख की औषध मिल गई है। अब मेरा दुःख दूर होगा। सरला बेटी! मेरे नेत्र जिसके प्यासे हैं, तेरे मुख में उसी का रस है, तुझे देखकर ही अब मैं जीऊँगी, और मरती बार सुख से मरूँगी।" इतना कहकर उन्होंने सरला की ओर निर्निमेष दृष्टि से देखा। सरला भी उन्हें देख रही थी। शारदा ने उसके दोनो हाथ पकड़कर कहा—"सरला! तू मुझे क्या कहकर पुकारा करेगी ?" सरला ने व्यग्रता से पूछा—"क्या कहकर पुकारा करूँ ?' कुछ क्षण शारदा ने उसकी आँखों में आँखें गड़ाए रखकर कहा—"तूने कहा था न कि मैं पूर्व-जन्म की तेरी मा हूँ, मुझे मा कहकर ही पुकारा कर।"

सरला के नेत्र स्थिर हो रहे थे। उसने रुँधे कंठ से कहा—"मा!"

"बेटा! छौना!" शारदा के मुख मे अनायास ही निकल गया। सरला फिर शारदादेवी की छाती से जा लगी। इस क्षण दोनो का जो बंधन बँधा, उससे दोनो कृतकृत्य हो गईं।

आठवाँ परिच्छेद

सरला घर की तरह यहाँ रहने लगी। शारदा बड़े ही दुलार से उसे रखती हैं। एक दिन चंद्रमा की स्वच्छ चाँदनी में सरला और शारदा में न-जाने क्या-क्या बातें होती रहीं। उनका अभिप्राय यही था कि मनुष्य को कामना-रहित होकर सेवा और प्रेम करना चाहिए। इन बातों में न-जाने कैसी मिश्री घुली थी कि शारदा की नींद उचट गई। सरला बातें करते-करते वहीं चाँदनी में थककर सो गई, और शारदा चुपचाप उसका मुख देखकर विचार-सागर में डूबती-उतराती रहीं। उनके मन में होता था—"यह नन्हा-सा हृदय और ये बातें! संसार में मुझे किसी में ढाढ़स, तृप्ति, शांति न मिली थी, जो सरला की बातों में मिली है। लालसा मर गई है। मुझे ऐसा मालूम होता है कि मैं ही परम भाग्यवती हूँ। सरला ने ठीक ही तो कहा है कि जो पुष्प विलास के उपभोग में आते हैं, उनसे तो वे ही अधिक भाग्यवान् होते हैं, जो देवार्चन में उपयुक्त होते हैं। जिसका अंत वियोग और दुःख है, उस सम्मिलन से लाभ क्या? ऐसा संयोग तो हम जहाँ से आए हैं, और अंत में जहाँ हमें अवश्य जाना है, उस मार्ग में काँटे बोना है। ठीक है! ठीक है!" यह सोचकर

शारदा ने आँखें मीच लीं। वर्तमान युग पर पर्दा पड़ गया, और अतीत युग का अभिनय उनके नेत्रों में होने लगा।

गंगा की सफ़ेद रेती में, संध्या के धुँधले प्रकाश में, एक नन्ही-सी बालिका बैठी घर बना रही है, और एक बालक सामने खड़ा होकर उसका चित्र बनाने की चेष्टा कर रहा है। बालिका बार-बार हिल जाती है, सिकुड़ जाती है, और वह उसे फिर ठीक बैठालने का यत्न से आदेश करता है। चित्र नहीं बना। बालक ने क़लम-काग़ज़ फेंक दिए, और नाराज़ होकर, एक वृक्ष की डाली पकड़कर खड़ा हो गया। बालिका से न रहा गया। उसने दौड़कर उसका हाथ पकड़कर कहा—"अच्छा, आओ देखो, अब मैं न हिलूँगा!" बालक ने मुँह फेर लिया। कन्या बोली—"ओहो, ऐसा भी क्या मिज़ाज, बात भी नहीं करते। मैं कहती हूँ कि अब न हिलूँगी।" कन्या की भृकुटी टेढ़ी हो गई। उसका मुँह फूल गया। बालक ने तनिक गर्दन टेढ़ी करके कुछ हँसकर कहा—"तो हमने जो इतना कहा कि सँभलकर बैठो, चुप बैठो, सुना क्यों नहीं? चित्र बनाना क्या आसान है? हाथ से बनाना पड़े, तो जानो।" फिर चित्र बनाया गया। चित्र बन गया! उसके नीचे लिखा गया 'शारदा'।

बालिका चित्र देखकर खिलखिलाकर हँस पड़ी। "वाह-वाह! देखो, मेरी नाक कैसी टेढ़ी कर दी, और वाह, एक कान ही नदारद!" बालक ने गंभीरता से कहा—"तुम चित्र-कला

का रहस्य क्या जानो ! अच्छा, पसंद न हो, तो मुझे दे दो ।" बालक नाराज़ हो गया ।

शारदा का ध्यान भंग हो गया । देखा, चाँदनी छिटक रही है । सामने शीतलपाटी पर सरला पड़ी सो रही है । शारदा से न रहा गया । उन्होंने वायु से माथे पर लहराते हुए सरला के बाल हटाकर उसका गोरा-गोरा माथा चूम लिया !

सरला हड़बड़ाकर उठ बैठी । कुछ क्षण में शांत होकर सरला ने कहा—" मा ! मेरे पास कौन था ?"

"मैं थी बेटी !"

"किंतु मा ! मैंने एक विचित्र स्वप्न देखा है । मैं तो डर गई ।"

"स्वप्न ? कैसा स्वप्न ?" शारदा ने आग्रह से पूछा ।

"मा, वही दिव्य पुरुष, जिनका चित्र हमारे घर में टँग रहा है, आए हैं । उनके नेत्र तो वैसे ही हैं, पर उनके सारे बाल सफ़ेद हो रहे हैं । उन्होंने प्रथम तो मेरे शरीर पर हाथ फेरा, पीछे कहा—'सरला ! तू कैसी है ? कब से तुझे देखने को फिर रहा हूँ । चल, मेरे साथ चल ।' ऐसा कहकर उन्होंने मेरा माथा चूम लिया । मैं तो डर गई मा ! तभी मेरी आँख खुल गई ।"

इतना कहकर सरला भयभीत दृष्टि से शारदा की ओर निहारने लगी । शारदा ने उसके दोनो हाथ पकड़ लिए, और कहा—"इसमें क्या है ? अभी हम उन्हीं की बात

कर रही थीं न, इसी से उनका ध्यान बना रहा होगा। मैंने ही तुझे प्यार किया है।" यह कहकर शारदा ने सरला की साड़ी ठीक कर दी। सरला फिर शारदा की गोद में झुक गई। शारदा बोली—"चलो, अब सो रहें।"

नवाँ परिच्छेद

सरला ने देखा, बैठे-बैठे कैसे जी लगे। उसने एक लेख लिख डाला। उसका शीर्षक था—हृदय। कलकत्ते के जिस प्रसिद्ध पत्र में वह निकला, उसी मास में उसकी दो हजार अतिरिक्त कापियाँ बिक गईं। उसके लेख से सभ्य-जगत् में ऐसी हलचल मच गई कि जहाँ देखो, लोग उसी की चर्चा करने लगे। देश-भर के भिन्न-भिन्न भाषा के पत्रों ने उसका अनुवाद किया। लंबी-लंबी समालोचनाएँ निकलीं। अमेरिका और योरप तक से धन्यवाद और प्रशंसा के पत्र सरला के पास आने लगे। उस लेख में ऐसा अनूठापन था, ऐसी अनोखी युक्तियाँ थीं, ऐसी सरस वाणी थी कि बड़े-बड़े विद्वानों ने उसे दो-दो, तीन-तीन बार पढ़ा।

इसी बीच में उसके 'हमारा धर्म' और 'आत्मविवेचना' नाम के और भी दो लेख निकले। इनका निकलना था कि सारे देश-भर में सरला परिचित हो गई। लोग उसकी तरह-तरह की कल्पना-मूर्ति गढ़ने लगे। जगह-जगह से प्रश्न उठने लगे कि सरला कौन है? एक प्रसिद्ध पत्र के संपादक उससे भेंट करने आए। देखा, एक उन्नीस वर्ष की लड़की का नाम सरला है। क्या यही वह विदुषी है? इसमें तो शिक्षिता-जैसे

कोई लक्षण नहीं पाए जाते। रूप, रंग, आकार, वेश-भूषा आदि कुछ भी तो शिक्षिता-जैसा नहीं है। प्रथम तो उन्हें संदेह हुआ, पर फिर उन्हें निश्चय हो गया। अगले दिन जब सारे पत्रों में यह निकला कि सरला एक १६ वर्ष की ग्रामीण बालिका है, उसे न किसी कॉलेज की डिग्री है, न कोई मान-पत्र, तब लोग अचरज करने लगे। किंतु कितने ही उसे स्वर्गीया देवी समझकर उसके दर्शन को लालायित हो उठे। जो पुरुष उससे मिलने आता, उससे वह ऐसे घराऊपन से मिलती कि वह यहाँ बाहरी सभ्यता और तड़क-भड़क को भूल ही जाता; सरला की छाप उसके हृदय पर लग ही जाती।

एक दिन प्रातःकाल सरला कुछ जल-पान करके बैठी हुई पुस्तक पढ़ रही थी। इतने में दासी ने खबर दी कि कोई सज्जन मिलने आए हैं। सरला पुस्तक रखकर उनके स्वागत को उठ खड़ी हुई। यह एक अधेड़ अवस्था के पुरुष थे। इनके साथ ही एक और युवक भी था। दोनो के बैठने पर एक पुरुष ने कहा—"जब से मेरे पत्र पर आपकी कृपा हुई है, तब से वह चौगुना बिकने लगा है। मैं आपका अत्यंत ही कृतज्ञ हूँ। आपने चित्र-विद्या सीखने की अभिलाषा प्रकट की थी, सो उसके लिये यह विद्याधर महाशय हैं। इन्हें मैं ले आया हूँ। श्रीयुत बाबू सुंदरलाल के भी आप दूर के संबंधी हैं। अभी थोड़े ही दिन हुए, कलकत्ते से चित्र-विद्या में पारंगत होकर आप आए

हैं। मुझे आशा है, यह आपको परिश्रम-पूर्वक चित्र-विद्या सिखावेंगे।"

इस युवक का नाम विद्याधर है, यह सुनते ही सरला चौंक पड़ी। यही नाम तो उन समाधिस्थ महापुरुष का भी था, जो मेरे हृदय के गुरु हैं!

सरला ने आँख उठाकर युवक की ओर देखा, और नम्रता-पूर्वक धन्यवाद दिया। युवक ने आदर-पूर्वक कहा—"देवी! जब से मैंने आपके लेख पढ़े हैं, तभी से मैं एक बार आपके दर्शन करना चाहता था। अब जब मालूम हुआ कि मैं आपकी कुछ सेवा भी कर सकूँगा, तो मेरे हर्ष का पार नहीं है। ऐसी सेवा क्या बिना भाग्य के मिल सकती है?

सरला ने देखा, युवक का भाषण गर्व और अनुराग से भरा हुआ है, और उसके नेत्रों में एक अपूर्व उत्साह चमक रहा है। न-जाने क्यों उससे उसकी ओर देखा भी नहीं गया। सरला के नेत्रों में भी कुछ नशा-सा हो गया, शरीर में पसीना आ गया, उसका ऐसा भाषण उसे असह्य तो हुआ, पर बुरा न लगा।

उसने युवक को बिना देखे ही कहा—"आपके इस अनुग्रह के लिये सदा कृतज्ञ रहूँगी। मेरे ज्ञान-गुरु का भी यही नाम है, और आप भी गुरु बनते हैं, आपका भी यही नाम है।" यह कहकर सरला ने युवक की ओर देखना चाहा, पर आँखें न उठीं। सरला को आज प्रथम ही लज्जा हुई है।

भद्र पुरुष उठने लगे, बोले—"अच्छा, अब चलो; यह नियमित समय पर आकर आपको अभ्यास करावेंगे। इनमे विशेष संकोच करने की आवश्यकता नहीं है। यह हमारे तथा बाबू सुंदरलाल के अपने ही हैं।"

यह कहकर वह उठ खड़े हुए। युवक भी उठ खड़ा हुआ। सरला ने कहा—"ठहरिए, कुछ जल-पान तो करते जाइए।" पर वह धन्यवाद देकर, और इलाइची लेकर चल खड़े हुए। चलती बार सरला ने युवक पर एक नजर डाल ली!

दसवाँ परिच्छेद

ईश्वर की कैसी अनोखी माया है! किसी वस्तु का वास्तविक स्वरूप क्या है, सो कुछ समझ में ही नहीं आता। जगत् में कुछ भी स्थिर नहीं है, इसी अनुभव से ऋषिगण संसार पर विश्वास नहीं करते थे। सरला के हृदय में हम आज अद्भुत परिवर्तन पाते हैं। उसका ऐसा परिष्कृत मस्तिष्क, ऐसा विस्तृत हृदय, ऐसा अटल निश्चय ऐसे वेग से उस युवक की ओर बहा जा रहा है कि स्वयं सरला भी घबरा उठी है। यह युवक नित्य आकर ज्यों-ज्यों काग़ज़ पर सरला का हाथ पका कराता है, त्यों-त्यों उसका हृदय कच्चा होता चला जा रहा है। यदि एक दिन भी वह नहीं आता है, तो उसके प्राण व्याकुल हो जाते हैं। वह दिन उससे काटे नहीं कटता। एकांत में बैठकर सरला सोचा करती है—"आखिर इस पतन का कारण क्या है?" जब युवक आता है, तो सरला न तो उससे विशेष बातें ही करती है, और न उसकी ओर देखती ही है। पर उसके चले जाने पर इस मूर्खता के लिये पछताती है। सरला कभी खाली न रहती थी। बचपन से ही उसे सदा सोचते-विचारते रहने का अभ्यास था। वह सदा ही किसी विचार में डूबी रहती थी; किंतु

उस विचार में शांति और तृप्ति को छोड़कर विषाद का नाम भी नहीं था, न व्याकुलता थी, और न आशा थी। पर अब दिनोदिन विषाद उसके विचारों में रमता जाता था। एक बार सरला ने सोचा, इस युवक का आना ही बंद कर दूँ; पर मस्तिष्क में पूरा विचार बैठा भी न था कि वह व्याकुल हो गई। पहले ऐसा होता था कि जब प्रभात का मनोरम काल होता, या मध्याह्न का प्रखर प्रकाश होता, अथवा संध्या का समय उपस्थित होता, तो शारदा साक्षात् विषाद की मूर्ति हो जाती थी। उस समय सरला हर तरह से बातचीत करके उसे सुखी करती थी। उसकी बातों का विषय और ढंग ऐसा निराला होता था कि शारदा उसे बड़े चाव से सुनती थी। पर कुछ दिनों से अब वैसी बात नहीं है। शारदा के पास चुपचाप बैठकर सरला स्वयं विषाद की मूर्ति बन जाती है।

यह भाव सदा छिपा तो रहता नहीं। एक दिन शारदा ने पूछा—"क्यों सरला! तुझे क्या कोई दुःख है, जो तू इतनी उदास रहती है? क्या मुझे भी तू मन की बात न बतलावेगी?"

सरला ने कहा—"मा! जाने क्या बात है, जी में बेचैनी रहती है।"

"कैसी बेचैनी? कोई रोग हो, तो बता।"

"नहीं।"

"कुछ चाहिए ?"

"नहीं।"

"तो बात क्या है, कुछ साफ़-साफ़ तो कह !"

सरला कुछ देर चुप रही। कुछ कहना चाहा, पर कह न सकी, उसकी गर्दन झुक गई।

शारदा ने समझा, कोई बात है, पर कही नहीं जाती। वह चुपचाप सरला की ओर देखती रही।

सरला ने फिर कुछ कहने को सिर उठाया, पर जब देखा कि शारदा मेरी ही ओर देख रही है, तो उसने लजाकर फिर सिर झुका लिया।

शारदा ने प्यार से उसका हाथ पकड़कर कहा—"ऐसी कौन-सी बात है बेटा, जो मुझसे कहने में लाज लगती है। कोई और होती, तो मैं कुछ और ही समझती। पर मेरी सरला का हृदय मुझसे छिपा नहीं है। वह चाँदी-सा स्वच्छ है। ऐसे विशाल उद्देश्य, ऐसी महानुभावता कहीं मिल सकती है ? जिस हृदय को स्पर्श करके मेरी घोर अतृप्त आत्मा को परम शांति हुई है, वह संसार के प्रलोभनों में फँसेगा ? यह संभव है ? जहाँ स्वर्ग के पारिजात खिल रहे हैं, जहाँ प्रेम करने में मन भय, लज्जा और तृष्णा से परे है, यह संसार जिसका क्रीड़ा-क्षेत्र है, उसके संबंध में वैसी आशंका भूल ही नहीं, अपराध भी है।"

शारदा इतना कहकर चुप हो गई। उसकी वक्तृता सुन-

कर सरला ने अपना मुँह आँचल से छिपा लिया। वह लज्जा के मारे मर गई।

कुछ देर तक सन्नाटा रहा; पीछे सरला ने मुँह ऊपर को उठाया। उसकी इच्छा थी कि एक बार शारदा की आँखों को देखूँ, पर वहाँ दृष्टि न ठहरी। सरला ने कहा—"मा! आशीर्वाद दो कि तुम्हारी सरला ईश्वर के राज्य में निर्भय विचरण करे। अभी तुमने जिस पारिजात के उपवन का नाम लिया है, वहाँ को जी कैसा ललचा रहा है—वह मुझे कैसे प्राप्त होगा?"

शारदा बोली—"जहाँ की तुम्हें आकांक्षा है, तुम वहीं तो हो। तुम्हारे सौभाग्य का क्या कहना है! मुझ अधमा नारी का जीवन एक ऐसी डोरी के सहारे लटक रहा है, जिसका ओर तो है, पर छोर नहीं। तुमने कैसे सुंदर राज्य का प्रलोभन दिया है, पर बेटा! वह रस्सी आज तक न छूटी। छूटने की कुछ आशा भी नहीं है।"

यह कहकर उसने एक ऐसी लंबी साँस भरी कि उसके साथ सैकड़ों स्मृतियाँ, असंख्य वेदनाएँ और अगणित अनुताप बाहर निकलकर वायु-मंडल में मिल गए।

फिर उसने कहा—"और तुम! ईश्वर करे तुम्हारे हृदय का सौंदर्य अटल रहे। तुम ऐसे पथ की पथिका हो, जहाँ निष्ठुरता, अवज्ञा, अनुताप और अनुदारता की गंध भी नहीं है।" रमणी के होठ फड़कने लगे। गला रुँध गया। फिर

उसने कहा—"तुम्हारा हृदय उस शिखर पर है, जहाँ कोई ही पहुँचता है। वासना का कीड़ा कहाँ तुम्हारी बराबरी कर सकता है।"

सरला से न सुना गया। उसने विकलता से शारदा की गोद में मुँह छिपा लिया। कुछ ठहरकर उसने कहा—"मा! ऐसा प्रतीत होता है कि मेरा हृदय खिसका पड़ता है। कहीं मेरे जीवन का प्रवाह पथ-भ्रष्ट होकर मरुस्थल में लुप्त न हो जाय!"

शारदा बोली—"ईश्वर न करे कि ऐसा हो, कीड़े-मकोड़ों और चीटियों को भी उसका बल है। वही क्या हमारी आत्मा को बल न देगा?"

सरला ने देखा, हाय! इसके हृत्पटल पर मेरा कैसा चित्र बन गया है। उसके मन में आया, एक बार खोलकर सब कह दूँ, पर उससे कुछ भी नहीं कहा गया। उस समय शारदा भी बहुत उदास हो गई थी। उसने हाथ जोड़ नेत्र बंद-कर कहा—

"तेजोऽसि तेजो मयि धेहि।
बलोऽसि बलं मयि धेहि।
ओजोऽसि ओज मयि धेहि।"

सरला ने शांति-पूर्वक इस उपदेश को हृदयंगम किया। उसने विनय-पूर्वक कहा—तथास्तु।

ग्यारहवाँ परिच्छेद

सरला के लेख अब भी समय-समय पर निकलते थे, पर अब उनमें एक और ही छटा थी। अब सरला की आँख में ऐसा सुर्मा लग गया था कि वह पारलौकिक सुख को प्रत्यक्ष यहीं देखने लगी थी।

सायंकाल के चार बजने का समय है। सरला अपनी ड्राइंग कापी लिए बैठी है। उसकी पेंसिल धीरे-धीरे चल रही है। पर उसका मन वहाँ बिलकुल नहीं है। बारंबार वह द्वार की ओर देख रही है। विद्याधर ने घर में प्रवेश किया। सरला शांत भाव से खड़ी हो गई।

युवक ने कहा—"इतने शिष्टाचार की आवश्यकता ही क्या है, देवी!"

सरला ने युवक की छड़ी को निहारते हुए कहा—"आप गुरु जो हैं!"

"गुरु? राम-राम सरला! गुरु तो आप हैं।"

सरला ने सिकुड़कर कहा—"आप ऐसी बात क्यों कहते हैं? यह तो सुनने में भी अच्छी नहीं लगती। आप—"

युवक उतावली से बोला—"मैं ठीक ही कहता हूँ। कलकत्ते में जिस समय मैंने आपका 'हृदय' देखा, तभी से मैं आपका

भक्त बन गया हूँ। तभी एक धुँधली-सी आशा हुई थी कि आपकी सेवा करने का अवसर मिले, तो अहोभाग्य; पर जैसे मनुष्य के जी में और बहुत-से संकल्प उठा करते हैं, वैसे ही यह भी था। और, यह तो स्वप्न में भी विश्वास न था कि मुझे सचमुच ही आपकी सेवा करने का सौभाग्य प्राप्त होगा।"

सरला के हाथ से पेंसिल छूट गई। कुछ देर में जो उसने सिर उठाकर देखा, तो युवक का सारा शरीर काँप रहा था। उसने बहुत कुछ सँभलकर कहा—"आप जो कृपा कर रहे हैं, मैं कैसे बतलाऊँ कि उससे मुझे कैसा आनंद मिलता है; पर अभी तक यह संदेह ही था कि आप जो इतनी कृपा कर रहे हैं, इसमें व्यर्थ ही आपको कष्ट होता है। पर संकोच-वश मैं कुछ कह न सकी थी।"

युवक के नेत्रों में मद आ गया। उसने अत्यंत नम्रता से कहा—"मैं नहीं जानता, दयामयी देवी क्यों इस साधारण व्यक्ति पर ऐसी कृपा रखती हैं।" नम्रता के साथ ही युवक के मुख पर अनुराग और आतुरता झलक रही थी।

सरला का सारा शरीर सिकुड़ रहा था, पर इस बार उसने हृदय को कड़ा करके कहा—"मैं एक दुःखिनी, बेघर-बार की अबला हूँ। मैं किसी को कुछ नहीं देती, फिर भी लोग मुझ पर ऐसी कृपा करते हैं कि मैं तो लाज में गड़ जाती हूँ। आप भी वैसी ही बात कहते हैं।" यह कहकर

सरला ने अपनी दूध-सी स्वच्छ आँखों को युवक के मुख पर गड़ा दिया !

युवक ने कुछ उत्तेजित होकर कहा—"आप तो इस लोक की देवी नहीं है। आपके मन और आत्मा की बात दूर रही, आपके दर्शनों से भी शांति मिलती है। आपका स्वरूप, आपकी वाणी, आपका भाव, आपका हृदय, कोई भी इस लोक का प्रतीत नहीं होता। क्या जानें, यह अनूठा रत्न विधाता ने भूलकर इस पापमयी पृथ्वी पर क्यों भेज दिया है ! फिर जो इसकी सेवा करे, उसके सौभाग्य की क्या बात है !"

"किंतु यह आपकी कल्पना है। मैं तो एक तुच्छ मानवी हूँ। मुझमें यदि कुछ है, तो उसे मेरे गुरुवर्य की महिमा समझनी चाहिए।"

"वह कौन महापुरुष हैं ? देवी ! उनके पुण्य नाम से क्या मैं अपने कान पवित्र कर सकूँगा ?"

सरला ने धीरे से कहा—"विद्याधर।"

युवक चौंक पड़ा। उसने जो सरला के मुख पर दृष्टि डाली, तो वह अत्यंत मधुर और दीप्तिमान् हो रहा था।

सरला ने भी देखा, युवक चकित हो गया है। उसने कहा—"आपका भी वही शुभ नाम है, और आप भी मेरे गुरु हैं।" सरला का मुख और भी मधुर और प्रफुल्ल हो उठा, किंतु अबकी बार उससे उधर देखा न जायगा।

युवक ने कहा—"उन पूज्य देव का मुझे दर्शन लाभ हो सकेगा ?"

"नहीं, सैकड़ों वर्ष बीत गए, अब वह इस पाप-भूमि पर नहीं हैं।" युवक ने अकचकाकर कहा—"यह कैसे हो सकता है, देवी ! वह तो आपके पूज्य गुरुवर्य हैं न ?"

"हाँ, उनका स्वरूप तो कभी देखा नहीं, पर विश्वास है, कभी-न-कभी उनके दर्शन अवश्य होंगे।" यह कहकर सरला ने इस अभिप्राय से युवक की ओर देखा कि उसे उसकी बात पर प्रतीति हुई या नहीं। युवक के मुख पर आश्चर्य के चिह्न विराजमान थे। सरला बोली—"अब वह इस पृथ्वी पर नहीं हैं, किंतु उनका हृदय वसंतपुर में उनकी समाधि में उनके ही हाथ से लिखा हुआ रक्खा है। उसी के द्वारा मुझे सब कुछ मिला है।" युवक उठ खड़ा हुआ। उसने उत्तेजित होकर कहा—"वसंतपुर के समाधिस्थ महात्मा की बात कहती हो ?"

"हाँ।"

सरला ने देखा, युवक के नेत्रों में एक विचित्र ज्योति छा गई है। युवक ने फिर कहा—"वहाँ तो अत्यंत प्राचीन भाषा का पुस्तक-भांडार है। क्या आपने उसे पढ़ लिया है ?"

सरला को भी आश्चर्य हुआ। वह बोली—"हाँ, ५ वर्ष की अवस्था से १८ वर्ष की अवस्था तक निरंतर परिश्रम

करके मैंने उन सब पुस्तकों को पढ़ा है। पर आपको ये सब बातें कैसे ज्ञात हुईं ?"

"वह मेरे ही पूर्वजों की भूमि है। वह महापुरुष हमारे ही पूर्व-पुरुष हैं। मेरे पिता के संतान नहीं थी। मेरी माता ने ७ वर्ष तक उस समाधि को बुहारकर उन महात्मा के प्रति मानता की, तब मेरा जन्म हुआ। इसी से मेरा नाम भी उन्हीं के नाम पर रक्खा गया। समाधि के उत्तर ओर कुछ खँडहर और पीपल का वृत्त है।"

"हाँ-हाँ, वही मेरी पाठशाला है। उसी पेड़ के नीचे बैठे-बैठे मैंने वे अमूल्य ग्रंथ देख डाले हैं।"

"उसी पेड़ के नीचे ? कैसा चमत्कार है ! वही पेड़ तो मेरी भी प्रारंभिक पाठशाला है। मैं प्रथम वहीं बैठा-बैठा चित्र बनाया करता था। उस स्थान को १५ वर्ष से नहीं देखा।"

सरला को भी कौतुक हो रहा था। वह बोली—"मेरा सारा बाल-काल उसी पीपल के वृत्त की उपासना में व्यतीत हुआ है।"

"किंतु आप वहाँ कहाँ थीं ? मैंने तो आपको कभी वहाँ देखा नहीं।"

"आप जब वहाँ के हैं, तो बूढ़े लोकनाथ को तो अवश्य जानते होंगे !"

"हाँ-हाँ—काका लोकनाथ ? फिर ?"

"वही मेरे पिता थे !"

"उनके तो सुनते हैं, कोई संतान नहीं थी।" युवक फिर कुछ याद करके बोला—"कुछ याद आता है। एक कन्या उनकी तो नहीं थी, कोई अपरिचित उन्हें दे गया था।" युवक फिर चुप होकर कुछ चिंता-सी करने लगा। आँखें मुँद-सी गईं। सरला ने देखा, युवक को एक ऐसी स्मृति हो रही है, जो बहुत ही मधुर है। सरला को भी इस समय एक पुरानी बात की धुँधली-सी याद आ रही थी, और उसके हृदय में एक विचित्र आंदोलन हो रहा था। युवक ने फिर कहा—"एक घटना के कारण वह लड़की भूली नहीं है। एक दिन मैं वहीं बैठा चित्र बना रहा था। सामने जो कृष्ण-ताल है, उसमें एक फूल तोड़ने के लिये वह घुस गई, पर कीचड़ में पैर फिसल जाने से धम-से गिर गई। गिरते ही रोने लगी। रोने की आवाज़ सुनकर मैं दौड़ा हुआ गया, और उसे निकालकर उसके घर पहुँचा आया। इसके बाद मैं कलकत्ते चला आया। इतने दिन बीत जाने पर भी वह बात आज की तरह याद है। न-जाने वह लड़की अब कहाँ होगी। अभी मैं कलकत्ते से लौटकर वहाँ गया था। बहुत कुछ आशा थी कि उसे वहाँ देखूँगा। पर सुना कि लोकनाथ काका मर गए, और उनके बाद ही वह लड़की भी कहीं चली गई।" इतना कहकर युवक ने एक लंबी साँस ले ली। सरला बहुत ही उद्विग्न हो रही थी। उससे चुप न रहा गया। उसने कहा—"मैं ही वह लड़की हूँ।"

युवक चौंककर खड़ा हो गया। उसने लपककर सरला का हाथ पकड़ लिया। किंतु तुरत ही छोड़कर वह फिर कुर्सी पर बैठ गया। कुछ ठहरकर उसने कहना शुरू किया—"इस असभ्यता को क्षमा कीजिए। मेरा मन बहुत ही उत्तेजित हो गया था। क्या वही मूर्ति मेरे सामने है, जो १५ वर्ष से हृदय में रम रही है?" सरला चुपचाप अपने बनाए चित्र पर नज़र डाल रही थी। उसने कुछ कहना चाहा, पर कहा न गया।

युवक ने कहा—"मेरा अहोभाग्य है। तपस्या सफल हो गई। मुझे तो स्वप्न में भी ज्ञान नहीं था कि जिस पवित्र मूर्ति से एक बार नेत्र पवित्र हो गए हैं, पंद्रह वर्ष बाद उसी के हृदय से 'हृदय' तृप्त होगा, और अंत में उसकी सेवा से शरीर भी कृतार्थ होगा।" इतना कहते-कहते युवक—बहुत उद्विग्न हो चुका था, इस कारण—कुर्सी से खिसककर सरला के चरणों में आ रहा। आवाज़ भर्रा गई। शरीर काँप रहा था, उसने कहा—"हृदयेश्वरीदेवी! रक्षा करो, हृदय नहीं रुकता। कब से रोक रहा था। आज क्या-क्या बातें ज्ञात हो गई हैं! मेरी इस असभ्यता पर तिरस्कार करो, धिक्कारो, पर मुझे अपने चरणों से दूर न करो। यह साहस बड़ा कठिन है, पर मैं जानता हूँ, तुम अपराधी से भी घृणा नहीं करतीं। फिर मैं घृणा से डरकर ही क्या करूँगा? मेरा वश चलता, तो कभी ऐसी गुस्ताखी न करता। मेरा हृदय यद्यपि तुच्छ है,

फिर भी आप उसे बहुमूल्य बना सकती हैं।" यह कहकर उसने एक अगम्य तृषित और विषाद-भरे नेत्रों से सरला को देखा। सरला भी अब आपे में नहीं थी। क्षण-भर उसने युवक की ओर देखा। वह कुर्सी से खिसक पड़ी। उसके मुख से अनायास ही निकल गया—"मेरे प्राण-रक्षक गु—"। इसके बाद उसका मुख बंद हो गया। आगे कुछ कहने की जरूरत ही क्या थी! दोनो हृदय एक हो गए थे।

बारहवाँ परिच्छेद

नदी का बाँध जब तक बँधा रहे, तभी तक ठीक है। एक बार प्रवाह जारी हो जाने पर फिर बंद होना दुर्घट ही हो जाता है। हमारी उस लोक की सरला भी इस लोक में लिप्त हो गई !

दोपहर के समय सरला भोजन करके बैठी है। स्नेहमयी शारदा अभी बातें करते-करते उठकर गई है। सरला कुछ सोच रही है। सामने की खिड़की की छड़ों पर उसकी दृष्टि लग रही है, पर वह उन्हें देख नहीं रही है। वह मन-ही-मन एक चित्र बना डालती है, और बिगाड़ डालती है। मानो बनाए नहीं बनता। कभी तो उसके मुख पर मुस-कान की प्रफुल्लता, कभी लज्जा की लाली, कभी भय की पीतता और कभी कौमार की मधुरता छा जाती है। उस समय सरला का मुख एक ऐसी रहस्यमय पोथी बन रहा था कि समझनेवाला क्या कुछ न समझ जाय ! पर हाय ! वहाँ था कौन ?

उस समय वह सोच रही थी—"जब मैं डूब गई थी, तब क्या इन्हीं ने मेरे प्राण बचाए थे ? जिस महापुरुष ने मेरे हृदय के पट खोल दिए हैं, क्या उन्हीं की आत्मा ने इस

शरीर में दर्शन दिए हैं? वही नाम, वही कुल, वही छवि, वही महत्व। फिर रह क्या गया? मैं कहती थी न कि वह एक दिन अपना स्वरूप भी दिखावेंगे; वही सच हुआ। हृदय की लालसा कभी नष्ट हो सकती है क्या? पर—पर—" सरला से आगे कुछ न कहा गया। उसके प्रफुल्ल ओष्ठ कुछ हिलकर रह गए। फिर सरला सोचने लगी—"मेरी यह वासना क्या स्वार्थ से सनी हुई नहीं है? 'सत्य' से क्या कह आई हूँ! उसने कैसे व्रत का उद्यापन किया है! उसका सारा सुख मैं ले आई हूँ! उसने खुशी से ले आने भी दिया है। उसने कहा था कि मैं इसी अवस्था में शांति को ढूँढ़ निकालूँगा।"

आह, कैसी महत्ता है! सरला का मुख गंभीर हो उठा। उसने एक ठंडी श्वास ली।—यह तो बड़ा अत्याचार है। ऐसा परमार्थ किस काम का, जिस पर एक प्राणी का बलि-दान करना पड़े! क्या जाने, सत्य कैसा है? क्या उसे एक पत्र लिखूँ? सरला सत्य के लिये व्याकुल हो गई। वह फिर सोचने लगी—"यह विद्याधर महाशय भी तो मनुष्य हैं, फिर मैंने सत्य के ही मुख पर सत्य के हृदय को ठुकराकर अन्याय ही किया है?" इतना सोचकर सरला एकाएक उठ खड़ी हुई। मेज़ की दराज़ को खोलकर वह एक तसवीर को बड़े ध्यान से देखने लगी। यह तसवीर विद्याधर ही की थी। सरला सोचने लगी—'क्या जाने मेरा मन इस

मूर्ति की ओर क्यों खिंचता है। हो-न-हो यह उसी महा-पुरुष की आत्मा है।" सरला एक अतीत युग में डूब गई। उस महापुरुष का सारा जीवन आँखों के आगे नाचने लगा। वह कष्ट, वह वेदना, वह उदारता, वह पवित्रता देखकर सरला का स्वच्छ हृदय गद्‌गद हो उठा। आँसू बह आए। वह वहीं घुटनों के बल बैठ गई। उस मूर्ति की ओर हाथ जोड़कर सरला बोली—"भगवन्! गुरुवर्य! क्या तुम वही हो?—बता दो, क्यों भटका रहे हो? अभागिनी को भटकाओ मत। आपके चरणों में आपके चरणों की दासी बनकर फिर किसी की सेवा करने की लालसा नहीं रह जाती। देव! सैकड़ों वर्ष हुए, आपने इस पापमयी भूमि को त्याग दिया है। पर मेरी प्रतिज्ञा थी कि मेरा हृदय आजन्म आपका ही उपासक बनकर रहेगा। उसी आवेश में मैंने सत्य के हृदय को तुच्छता से ठुकरा दिया था। मैं आजन्म उन्हीं अतीत युग के चरणों की मन-ही-मन उपासना करती; पर आप क्या मेरा दुःख उत्कंठा लालसा-वासना समझकर सचमुच ही इस मूर्ति में अव-तीर्ण हुए हो, या यह सब मेरे हृदय की निर्बलता है—मोह है—स्वार्थ है।" इतना कहकर सरला हाथ जोड़े स्तब्ध रह गई। मोती-से आँसू ढरढर करके उसके गालों पर बह चले।

कुछ क्षण बाद किसी ने उसे पीछे से छुआ। सरला ने

झिझककर देखा, तो विद्याधर खड़े हैं। विद्याधर ने कहा—"शांत होओ देवी! ऐसी अधीरता क्यों?—"

सरला उठ खड़ी हुई। युवक ने देखा कि उसके आँसू ढरकने बंद नहीं होते। उसने सोचा—"सरला मेरे ही प्रेम में रो रही है।" अंत में उसने कहा—"यह क्या? आप तो रोती हैं! एक तुच्छ जीव के लिये ऐसा क्यों?"

अब तो सरला की हिचकियाँ बँध गईं। बाँध टूट गया। वह बड़ी देर तक फूट-फूटकर रोती रही। अंत में सिर उठाकर उसने कहा—"मैं तुम्हारे लिये नहीं रो रही हूँ।" युवक चकित हो गया। कुछ ठहरकर उसने कहा—"क्षमा करो देवी! आपके सम्मुख इसी कृपापात्र का चित्र रक्खा था, इसी से मुझे ऐसा भ्रम हुआ।" यह कहकर युवक ने खिन्न होकर सरला की ओर देखा।

"चित्र? क्या यह चित्र तुम्हारा है? "सरला ने यह बात तो अत्यंत तेजी से कह दी; पर तुरंत उठकर वह युवक के चरणों में आ गिरी। उसने गिड़गिड़ाकर कहा—"तुम कौन हो, सच कहो।"

"वही विद्याधर।"

"वही?"

"वही।"

"गुरुवर्य?"

"नहीं, तुच्छ दास!"

सरला चौंककर खड़ी हो गई। फिर उसने कहा—"तुच्छ दास ?" युवक ने अधीरता से कहा—"और क्या ?" इतना कहकर वह खड़ा हो गया। सरला ने हाथ पकड़कर कहा—"बैठ जाओ, मेरी बात का बुरा न मानना। मैं पगली-सी हो रही हूँ।" युवक का बोल न निकला। वह चकित होकर उसे देखता ही रह गया। उसे ऐसा बोध हुआ, मानो यह सरला वह सरला नहीं है। उसके मुख पर न सरलता है, न वह भोलापन; किंतु एक विचित्र गंभीर, महत्त्वमयी प्रतिभा निकल रही है। युवक ने कहा—"शांत होओ, अनुचित न हो, तो इस उद्वेग का कारण कह डालिए। आपकी ऐसी मूर्ति तो कभी नहीं देखी थी।"

सरला उसी तरंग में बोली—"कैसी मूर्ति ? क्या मेरी मूर्ति में कोई नवीनता है ?" फिर कुछ शांत होकर बोली—"जाने दीजिए, बैठ जाइए। आज कुसमय में कैसे दर्शन दिए ?"

"क्षमा करें, आप क्षुभित हैं, ऐसा मालूम होता तो—"

बात काटकर सरला ने कहा—"नहीं-नहीं, आपके आने से प्राण शीतल हो गए। क्या जाने आपको विधाता ही ने भेज दिया, या आप वही हैं।" यह कहकर सरला ग़ौर से उसका मुँह देखने लगी।

युवक ने विनीत भाव से कहा—"सरलादेवी ! क्यों अपने हृदय को दग्ध कर रही हो ? इससे मुझे भी कष्ट हो रहा

है। आपका भ्रम व्यर्थ है। उस महापुरुष का इस अधम शरीर में लेश भी नहीं है।"

सरला बोली—"बहकाओ मत। जो तुम साधारण ही होते, तो इस समय कैसे आ जाते ; यही कैसे ज्ञात होता कि तुम्हारे आने से मेरी आत्मा हरी हो जायगी। तुम मुझे भटकाओ मत। पहले मैंने एक ऐसे पथ पर पैर रक्खा था, जो बड़ा विशाल था। क्योंकि मैं जानती थी कि जिसे मैं चाहती हूँ, वह वहीं है ; पर चाहना की वस्तु यहीं मिल गई है, तो उतनी दूर भटकने का काम ही क्या है ? मैं तुम्हें पहचान गई हूँ। तुम हो तो वही। सच्ची बात कहने में मुझे डर नहीं लगता। तुम वही हो। मेरे मन ने, हृदय ने तुम्हारी ही पूजा की थी। अब इस अधम शरीर को भी सेवा करने दो। पूजा के पीछे सेवा का ही तो नंबर है।" ऐसा कहकर सरला ने आतुरता से युवक का हाथ पकड़ लिया।

युवक के शरीर में बिजली दौड़ रही थी! उसने गद्गद् कंठ से कहा—"कैसा आश्चर्य है देवी! इस बात पर सहसा विश्वास नहीं होता। मेरा पाषाण-हृदय और उस पर यह पुण्य! मेरा तो हृदय काँप रहा है। लोग कहते हैं, संसार में लालसा पूरी होना दुर्लभ है, तो क्या मेरे ही लिये यह बात झूठ साबित होगी ?"

सरला बोली—"झूठ क्यों होगी! तुमने १५ वर्ष से जो

दासी को याद रक्खा है, इसकी बात जो सोचते रहे हो। इतनी तपस्या के पीछे यदि अभीष्ट सिद्ध हो, तो क्या वह सुलभ कहावेगा? फिर वस्तु सुलभ हो या दुर्लभ, अधिकारी ही प्राप्त कर पाता है।"

युवक बोला—"तो अधिकारी मैं कैसे हुआ? मैं तो कोई वैसा महान् पुरुष नहीं हूँ। और, न मैंने वैसे पुण्य ही किए हैं।"

"अनुराग और सेवा यह महापुण्य हैं। जो इसमें स्थिर रहता है, वही महान् है।"

"किंतु पात्र भी चाहिए?"

सरला स्थिर कंठ से बोली—"वही पात्र है।"

"वही पात्र है? चाहे वह कैसा ही क्षुद्र क्यों न हो?"

सरला ने उसी स्वर में कहा—"क्षुद्र क्या? चाहे वह कीड़ा, मकोड़ा, पशु और हिंसक ही क्यों न हो।"

इस समय सरला का मुख ऐसा तेजोमय हो रहा था कि युवक से उसकी ओर देखा ही न गया। उसने नीचे ही देखते-देखते कहा—"देवी! आपका यह स्वरूप न देखा जाता है, न समझा जाता है। आपका यह विशाल हृदय क्या जाने किस लोक की बात सोचता है। ऐसी अमूल्य वस्तु क्या इस लोक की हो सकती है?"

सरला ने निश्चल और गंभीर भाव से कहा—"वह सब कुछ मैं तुम्हारे ही चरणों में न्योछावर कर चुकी हूँ। वह तुम्हारी ही पूजा में मग्न है।"

युवक मुग्ध हो गया। उसने खड़े होकर आदर-पूर्वक सरला का पवित्र हाथ चूम लिया।

सरला ने धीरे से अपना हाथ खींच लिया। नग्न सब कुछ कह चुकी थी। आग बुझ चुकी थी। अब उसने धैर्य से कहा—"बैठिए, आज असमय में कैसे पधारे?"

नवयुवक ने जेब से एक समाचार-पत्र निकालकर कहा—"यह देखिए, आज छ महीने पीछे आपके लेख 'हृदय' की समालोचना छपी है। कैसी मर्मभेदिनी है। कैसी अनोखी छान-बीन है। इसे पढ़कर मुझसे न रहा गया। आपको दिखाने के लिये चला आया हूँ।"

सरला ने तनिक विस्मय से कहा—"समालोचना? देखूँ।"

"देखिए। बड़ी देर हुई—मुझे आज्ञा दीजिए।" यह कहकर युवक चला गया।

सरला देखने लगी। उस लेख का शीर्षक था—'हृदय की परख।' लेख बहुत लंबा न था, पर जो कुछ था, बहुत था। उसके शब्दों में न-जाने क्या था, उनमे सरला का हृदय छिलता चला जाता था। उसे पढ़ते-पढ़ते सरला के हृदय में एक मार्मिक वेदना होने लगी। उसने देखा, इस प्रतिभाशाली लेखक के सामने मेरे विचार डगमगा गए हैं। मेरे गुरु के विचार भी तुच्छ देख पड़ते हैं। उस लेख में न-जाने क्या जादू था। सरला उसे पढ़ते-पढ़ते लज्जित-सी हो गई। उसका शरीर अपराधी की भाँति काँपने लगा। समचा लेख उससे

न पढ़ा गया। उसने आतुर होकर नीचे लेखक का नाम देखना चाहा। वहाँ लिखा था—'सत्य'

सरल चौंक पड़ी—"सत्य कौन? क्या यह वही सत्य है? क्या सत्य ऐसा है?"

आज दो वर्ष पीछे सरला को सत्य की याद आई है। उसने सरला के लिये कब-कब और क्या-क्या किया था; वह कैसा शांत, स्वच्छ और विश्वासमय प्रेम था, सब स्मरण हो आया। पर हाय! उसे ठुकराकर, उसका सब सुख लेकर मैं चली आई हूँ। तो क्या सत्य ने मुझे ही लक्ष्य करके ये करुण शब्द लिखे हैं? यह दारुण विषाद की ध्वनि क्या मेरे ही कारण अलापी है? एक निष्ठुर, नीरस और भाव-रहित हृदय का वर्णन करते-करते जो अनेकों बार उसकी लेखनी रो उठी है, सो क्या मेरे ही अत्याचार से?

सरला ने अपनी आँखें बंद कर लीं। उसने देखा, उसी पीपल के पेड़ के नीचे सत्य निर्निमेष दृष्टि से सरला को निहार रहा है। किसी अतीत चिंता के मारे उसके नेत्रों के नीचे कालौंस छा गई है, माथा सिकुड़ गया है, मुख पर विषाद की छाया विराजमान है। उसे देखते-ही-देखते सरला का हृदय भर आया। उससे न रहा गया। सरला रो उठी। बहुत देर तक रोई। कुछ देर बाद सरला ने मुँह उठाकर देखा, सामने कोई नहीं था। उसने एक पत्र लिखा—

"सत्य! तुम्हें सरला की अब भी याद आती है? तुम उसे

भूल क्यों नहीं गए ? वह तुम्हारी थी कौन ? उसने तो तुम्हें दो वर्ष हो गए, तब से एक बार भी याद नहीं किया।

"तुमने मेरा हृदय परख डाला, अच्छा किया। तुम्हारी वाणी चुभ गई है। तुम्हारी आत्मा इतनी रोती क्यों है ? यह तो देखा नहीं जाता। सत्य ! सच कहना, क्या यह सारा अभिशाप तुमने सरला पर ही लगाया है ?

"तुम्हें देखने की बड़ी लालसा है, पर अब उसके पूरी होने में सुख नहीं है। वह पूरी न होगी। तुम्हें देखने को जी होता है, पर साहस नहीं होता। तुम यहाँ मत आना। मैं भी वहाँ तुम्हारे पास न आऊँगी। पर एक बार लिखना अवश्य—अपने जी की सच्ची बात लिखना। क्या तुम अशांति से छटपटा रहे हो ? अपना दुख मुझे दिखाओ, संकोच मत करो। सरला निष्ठुर और चोर है, पर तुम तो उसे प्यार करते हो। कब लिखोगे ? जब तक न लिखोगे, लौ लगी रहूँगी। आँखें उधर लग रही हैं।

तुम्हारी दुलारी—
सरला"

पत्र डाक में डाल दिया गया।

"Love is blind"
Worth to read.

तेरहवाँ परिच्छेद

"सरला बेटा! क्या हो रहा है?"

"कुछ भी तो नहीं मा!"

"कुछ भी कैसे नहीं, अच्छा बता, मैं कितनी बार आई, बोल?"

सरला तनिक लज्जा से बोली—"मैं एक चिट्ठी लिख रही थी।"

शारदा बैठ गई, फिर बोली—"किसे लिखी चिट्ठी?"

"सत्य को।"

"सत्य कौन?"

"आप सत्य को नहीं जानतीं। वह मेरा अत्यंत प्रिय पात्र है। बहुत दिनों तक उसके साथ खेलती रही हूँ आज उसकी याद आ गई, सो चिट्ठी लिखी है।"

"पर वह है कौन?"

"उन्हीं बाबा लोकनाथ के रिश्ते में हैं। ऐसे आदमी कम ही देखे गए हैं।"

"अच्छा, अब क्या करती हो?"

"कुछ नहीं, आज्ञा हो?"

"शशिकला बहन को जानती हो?"

"हाँ-हाँ, आपने उनका कई बार जिक्र किया है।"

"आज उनके ही घर चलेंगे। उनकी लड़की का ब्याह है। बड़े आग्रह से बुलाया है।"

"अच्छी बात है। उन्हें देखने की लालसा भी है। आप कहती थीं कि वह आप पर अकपट प्रेम रखती हैं।"

"इसमें संदेह नहीं। वह बहुत बड़ी आदमी हैं। अब उनका जी अच्छा नहीं रहता। यहीं पड़ोस की लड़की हैं। इस बीच में वह एक बार भी यहाँ नहीं आईं, पर खबर नित्य आती रहती है। उनके पति भाई के सहपाठी मित्र हैं।" इतना कहते-कहते न-जाने क्यों शारदा का मुख भारी हो आया।

"तो कब चलना होगा?"

"तीन बजे की गाड़ी से।"

"अच्छी बात है।"

तैयारी हो गई। गाड़ी आई, और बाबू सुंदरलाल, उनकी बहन तथा सरला, तीनो उसमें सवार हो गईं। दो घंटे बाद सबको उतरना पड़ा। गाँव का छोटा-सा स्टेशन था, पर मालिक की ओर से वहाँ पर भी सवारी का प्रबंध था। सब बैठकर चले। एक आलीशान मकान के सामने गाड़ी ठहर गई। सब लोग आगे बढ़े, और द्वार पार करके जनानी ड्योढ़ी पर पहुँचे। आगे शारदा थी, पीछे सरला। सामने ही गृह-स्वामिनी इनका स्वागत करने को

खड़ी थी। सरला की ज्यों ही उस पर दृष्टि पड़ी, उसे काठ मार गया। वह वहीं बैठ गई। घबराहट के मारे उसका सारा शरीर पसीने से तर हो गया। शारदा ने चकित होकर कहा—"यह क्या सरला! क्यों, तबियत तो ठीक है?"

"सरला ने कातर स्वर से कहा—"मा! मैं कहाँ आ गई?"

अब तक गृह-स्वामिनी चुप थी। सरला को देखकर वह भी स्तब्ध रह गई थी, पर अब उसने सचेत होकर कहा—"भीतर आओ बेटा! यह तुम्हारा ही घर है। आज मेरे भाग्य, जो तुम आईं।" यह कहकर वह रमणी उसका हाथ पकड़कर उठाने लगी।

सरला ने धीरे से हाथ छुड़ाकर शारदा की ओर देखकर कहा—"मा! मेरा जी घबरा रहा है। मैं यहाँ न ठहरूँगी। मुझे तो घर भेज दो।" शारदा ने उसके मुँह का पसीना पोंछते-पोंछते कहा—"इतनी दूर चलकर आई है न। अभी तबीयत ठीक हुई जाती है।"

इतने में गृह-स्वामिनी बोली—"भीतर चलकर विश्राम करो। मार्ग चलने से ऐसा हो ही जाता है।"

गृहिणी फिर हाथ पकड़कर उठाने लगी। सरला ने उधर से आँख फेरकर शारदा से कहा—"मा! जिद मत करो। मैं अभी घर लौट जाऊँगी।"

शारदा कुछ उदासी से बोली—"ऐसा क्यों? कुछ बात

वो कह, क्या हो गया ? यह शशिकलादेवी हैं, कितने दिन बाद मिली हैं। अब क्या हमें लौटना उचित है ?"

"तो आप ठहरें, मुझे भेज दें।"

गृहिणी फिर बोली—"सरला ! क्या तेरे ही लिये मेरे घर में जगह नहीं है ? मैं तुझे देखकर कितनी .खुश हुई हूँ, पर हाय ! तू मेरे रस में विष घोले देती है। आ चल बेटी !" यह कहकर शशिकला ने फिर उसका हाथ पकड़ लिया।

सरला बोली—"क्षमा करें। मैं क्या रस में विष घोलूँगी। मां तो आपके पास आई ही हैं, फिर मेरे ही जाने से आपको दुःख क्यों होगा ? मैं तो बिना ही बुलाए अचानक आ गई हूँ।"

गृहिणी ने करुण स्वर से कहा—"तो क्या बेटी ! तेरे ही लिये मेरे घर में जगह नहीं है ?"

सरला ने कहा—"नहीं।" अब तक सरला बैठी थी, अब उठ खड़ी हुई। उसकी आँखों की सरलता और मुख की मधुरता न-जाने कहाँ लोप हो गई। उसके मुख पर एक ऐसा तेज आ विराजा कि दोनों रमणियाँ देखती रह गईं। मुँह से बात न निकली।

सरला शशिकला के मुँह पर दृष्टि गड़ाकर बोली—"जो इस घर में मेरे लिये जगह होती, तो क्या मैं मेहमान की तरह आपसे स्वागत कराती ?"

सरला के होंठ फड़क उठे। शशिकला काँप उठी। उसे

पसीना आ गया। शारदा भी चौंक उठी। यह क्या कोई रहस्य है? इतने ही में शशिकला सूखे मुँह से कातर होकर बोली—"अच्छा सरला! अब क्या तुम एक संभ्रांत घर की महिला का सर्वनाश किया चाहती हो? तुम्हारे हृदय में भी बदला लेने की इच्छा है?" बात कहते-कहते शशिकला की आँखें भर आईं। वह दोनो हाथों से सिर पकड़कर वहीं बैठ गई। उसका सिर चकरा रहा था।

अब सरला का तेज और ज्योति न-जाने कहाँ विलीन हो गई। वह फिर सरला हो गई। उसकी आँखों में आँसू भर आए। उसने शशिकला का हाथ पकड़कर कहा—"इतना क्षुब्ध होने की क्या जरूरत है। मेरा तो आज तक किसी ने अपकार नहीं किया, फिर बदला कैसा? मेरा प्रारब्ध-भोग ही प्रबल है। आप सावधान हूजिए, मैं चली।"

शशिकला ने आँखें उठाकर सरला की ओर देखा। उसे देखने में न-जाने कितने विषाद, दुःख, कातरता और अनुनय-विनय के भाव भरे थे। देखते-ही-देखते उसकी आँखों से अविरल अश्रुधारा बहने लगी। सरला से भी न रहा गया। वह उससे लिपट गई। दोनो फूट-फूटकर रोने लगीं। सब लोग स्तब्ध थे। दास, दासी, सुंदरलाल तथा उसके स्वामी सभी वहाँ आ गए थे। सभी चकित थे कि यह बात क्या है।

अंत में कुछ शांत होकर सरला बोली—"मैं चली।"

शशिकला ने अत्यंत निराश-भाव से उसको देखकर कहा—"सरला बेटा ! एक बार मा न कहेगी ?"

सरला का सरल भाव फिर लोप हो गया। वही तेज, वही गंभीरता मुख पर फिर आ विराजी। आँसू भी एकदम सूख गए। उसने कुछ सिर झुकाकर कहा—"आज्ञा दें, जाती हूँ।"

शशिकला के भी आँसू सूख गए। उसने खड़े होकर टूटे दिल से कहा—"जा, इस घर से तेरा जाना ही ठीक है। पवित्रता की ऐसी मूर्ति के ठहरने योग्य यह घर नहीं है। जा, जीवन में एक बार तू आ गई। यही बहुत है। मैं कृतार्थ हो गई।"

सरला चुपचाप चल दी। शारदा भी पीछे-पीछे चली। एक बार सुंदरलाल सरला को समझाने के लिये आगे बढ़े, पर उसका मुख देखकर उन्हें साहस ही नहीं हुआ। सरला गाड़ी में बैठ गई। उसने शारदा से कहा—"मा ! जल्द आइयो।" सरला चली गई।

चौदहवाँ परिच्छेद

सरला के चले जाने पर घर-भर में हलचल मच गई। इस विचित्र घटना का सभी पर भारी प्रभाव पड़ा। शारदा ज्यों-ज्यों इस बात को सोचती, त्यों-त्यों उसे एक अनोखा संदेह होने लगता। फिर यह सोचकर कि यह तो असंभव है, वह शांत होने की चेष्टा करती। पर वारंवार शशिकला के ये शब्द कि 'सरला बेटा! एक बार मा न कहेगी?' और सरला की चेष्टाएँ उसके मस्तिष्क में भिन्ना रही थीं। बहुत कुछ विरुद्ध विचारने पर भी उसके मुख से निकल पड़ता था—"क्या यही सरला की मा है? फिर सरला की आँखें और मुख मेरे स्वामी से क्यों मिलते हैं? क्या यही मेरी सखी मेरा सर्वनाश करनेवाली डायन है?" शारदा बहुत चंचल हो उठी।

उधर गृह-स्वामी अजब चक्कर में पड़े थे। यह कन्या है कौन? और मेरी गृहिणी पर इसकी ऐसी विरक्ति, प्रभाव और घृणा क्यों? मेरी स्त्री-ऐसी देवी तो बहुत कम होती हैं, फिर इस बाला का उसने क्या बिगाड़ा है? और उसके रोकने को ऐसे कातर अनुनय-विनय क्यों? सरला के

शब्द भी उसे याद थे—"जो मेरे लिये इस घर में जगह होती, तो क्या मैं मेहमान की तरह आपसे स्वागत कराती ?" इसका क्या अर्थ ? इसमें कोई रहस्य तो नहीं है ? गृह-स्वामी बिलकुल बेचैन हो गए। कई बार मन में आया कि अभी चलकर शशि से पूछें कि बात क्या है, पर ब्याह की भीड़-भाड़ में वैसा सुयोग न मिला। स्त्रियाँ उनकी स्त्री को घेरकर बैठी थीं, पुरुषों की भीड़ हो रही थी। वह मन-ही-मन छटपटाते रहे। वह रात जागते ही बीती। घटना ऐसी हृदयग्राही थी कि ब्याह का काम न भी होता, तो भी उस रात कोई न सोता।

ब्याह समाप्त हो गया। कन्या-दान हो चुका। मंगल गाने-वाली स्त्रियाँ जँभाइयाँ लेती हुई सोने चली गईं। वर-पक्ष के लोग मंडप से उठ गए। घर में कुछ सुनसान हुआ।

शशिकला उठकर खाट पर लेट गई। पर उससे दो मिनट भी न लेटा गया। उसने दासी को बुलाकर कहा—"बारी, मैं नहाऊँगी। मेरा शरीर जला जाता है। मुझे चैन नहीं पड़ती। पानी की चरी तो उठा ला।"

दासी बोली—"रानीजी, इस कुबेला में नहाने से तबि-यत ख़राब हो जायगी। कल से व्रत किया है। कुछ खाया नहीं है। खाली पेट होने से ऐसा हो रहा है। कुछ खा लो। हुक्म हो, तो कुछ ले आऊँ।"

"कुछ नहीं, खाने के नाम जी मिचलाता है। जल्दी पानी ला। मैं गर्मी में जली जाती हूँ। न नहाने से दम निकल जायगा। देख तो, बाहर पानी है ?"

दासी चली गई। पानी आ गया। शशिकला ने चौकी पर बैठकर दासी से कहा—"लोटा भर-भरकर ऊपर डाल।"

वैसा ही किया गया। कितने ही लोटे पड़ गए, पर शशिकला ने पानी डलवाना बंद नहीं किया। दासी डरकर बोली—"अब बस करो रानीजी ! इतना बहुत है। नहाने का यह समय भी तो नहीं है। कुछ जल-पान को लाऊँ ?"

शशिकला बोली—"पानी और डाल, बड़ी चैन मिलती है, डाले जा।"

इतने में बाहर से किसी के आने की आहट सुनाई दी। दासी ने देखा, गृह-स्वामी हैं। उन्होंने आते ही पूछा—"रानी कहाँ हैं ? जागती हैं क्या ?"

"वह नहा रही हैं ?"

"नहा रही हैं ? इस वक़्त नहाने का क्या मौक़ा ?"

"मैंने बहुत रोका कि जी न बिगड़ जाय, पर सुनती ही नहीं, पानी डलवाए ही जाती हैं।"

गृह-स्वामी भीतर आए। शशि ने देखते ही कपड़े से शरीर ढक लिया। उन्होंने कहा—"यह क्या ? नहाने का यह क्या समय है ?"

शशि ने नीचे देखते-ही-देखते कहा—"गर्मी से शरीर जला जाता है।"

गृह-स्वामी ने शरीर से जो हाथ लगाया, तो वह जल रहा था। उन्होंने कहा—"अरे, तुम्हें तो बड़े वेग का ज्वर है! बारी, कहाँ गई? जल्दी आ।"

बारी दौड़ी-दौड़ी आई। स्वामी बोले—"इन्हें भीतर ले चल, ज्वर हो रहा है।"

बारी घबरा गई। शशिकला भीतर ले जाकर लिटा दी गई। स्वामी कुछ चिंतित होकर बाहर आए, पर किसी काम में फँस गए। आध घंटे बाद जाकर जो देखा, तो शशि बेहोश पड़ी है। प्रकृति बिगड़ रही है। बीच-बीच में कुछ अस्फुट प्रलाप-सा बकती है। मानो कोई भयंकर स्वप्न देख रही हो। रह-रहकर माथा सिकुड़ जाता है। होठ फड़क उठते हैं। पर वह नींद नहीं थी, भयंकर बेहोशी थी। सचेत करने की सारी चेष्टाएँ व्यर्थ गईं। सुंदरलाल इनके अंतरंग सुहृद् थे। उन्होंने सारा हाल आकर उन्हीं से कहा। सुंदर बाबू घबराकर बोले—"ईश्वर खैर करे। कल ही से उनका जी ठीक नहीं है। मैं वैद्य को अभी लिए आता हूँ।" इतना कहकर वह वैद्य को लेने चल दिए।

गृह-स्वामी रोगी की शय्या पर आ बैठे। रोगी अब भी घोर मूर्च्छित था।

थोड़ी देर में वैद्यजी आ पहुँचे। बड़ी देर तक नब्ज आदि

देखने के बाद उन्होंने एक हल्की-सी साँस ली, और कहा—"महाशय! भयानक सांघातिक ज्वर है। रोगी का जीवन संकट में है। अत्यंत सावधानी से चिकित्सा कीजिए।"

इतना कहकर और औषध आदि की व्यवस्था करके वैद्यजी चले गए। घर-भर में घोर उदासी छा गई। कन्या भगवती, जिसका विवाह था, रोती-बिलखती हुई मा के घर में घुस आई। शारदा की रात-भर आँख न लगी थी, पर इस समय कुछ झपकी-सी लग गई थी। ज्यों ही उन्होंने जागकर यह समाचार सुना, वह सखी के घर में आ बैठीं। विवाह का आनंद-मंगल विषाद-सागर में डूब गया। कल ७ बजे से इस घर की कुदशा आई है। रोगी की दशा में कुछ भी परिवर्तन न हुआ। संध्या समय वैद्यजी ने आकर फिर नाड़ी देखी। कमरे से बाहर आकर उन्होंने कहा—"क्षण-क्षण में रोगी की दशा बिगड़ रही है। आप प्रातःकाल बारात को तुरंत विदा कर दें। रोगी के अनिष्ट की ही संभावना है। मैं औषध देता हूँ। प्रत्येक घंटे पर देते रहिए।"

वैद्यजी की बात सुनकर गृह-स्वामी के हाथ-पैर फूल गए। सारी रात बैठे-बैठे बीत गई, पर रोगी को होश नहीं हुआ।

प्रभात ही सिविल सर्जन डॉक्टर को बुला भेजा। नगर के और भी सब वैद्य और प्रतिष्ठित डॉक्टर बुलाए गए।

सभी की सम्मति से चिकित्सा का निश्चय किया गया।

बारात भी विदा कर दी गई। भगवती अत्यंत कलपती हुई अपनी मूर्च्छिता माता से लिपट गई, पर उसे उसी अवस्था में छोड़कर जाना पड़ा।

आज का दिन भी बीत गया। रात के नौ बजे रोगी ने आँख खोली। यह देखते ही शारदा ने उससे पूछा—"बहन, कैसा जी है ?"

रोगी ने आँख फाड़कर उसकी ओर देखकर कहा—"तू कब आई ?"

शारदा भौंचक-सी रह गई। ऐसी बात तो उसने कभी नहीं कही थी। उसने कहा—"मुझे पहचाना, मैं कौन हूँ ?"

"निर्लज्जा ! तू वही लड़की है। मेरे पेट से होकर मेरा ऐसा अपमान !" इतना कहकर शशि ने अपने ऊपर की चादर फेंक दी। शारदा डर गई। उसने दासी से कहकर गृहस्वामी को बुला भेजा। शारदा ने फिर कुछ ढाढ़स करके तनिक उसके मुख के पास आकर कहा—"मुझे पहचानो तो, मैं कौन हूँ ?" अब की बार शशि क्षण-भर उसकी ओर देखकर और काँपकर बोली—"हें-हें, मुझे क्यों खाती है—मारे मत !" यह कहकर शशिकला रो उठी।

दुःखित होकर शारदा पीछे हट गई। उसी समय गृह-स्वामी के साथ सुंदरलालजी ने प्रवेश किया। उन्हें देखते

ही शशिकला बोली—"यह मुझे खाती थी, मुझे दाँत दिखाकर डराती थी।"

गृह-स्वामी आगे बढ़कर खाट पर जा बैठे, और शशि का ओढ़ना ठीक करके उसकी ओर देखकर बोले—"कैसी तबियत है?"

"तुम आ गए? आओ, कब आए?"

"पहचानो तो, मैं कौन हूँ?"

"सूरत तो वैसी नहीं है, पर हो वही।"

"कौन?"

"भूदेव।"

गृह-स्वामी के ललाट पर पसीना आ गया। वह माथे पर हाथ धरकर बैठ गए। भूदेव कौन? वही हमारा प्राण-प्यारा मित्र? सुंदरलाल भी पास ही चुपचाप खड़े थे। भूदेव का नाम उन्होंने भी सुना। दोनों के हृदय परसों की घटना से उद्विग्न हो रहे थे। इस प्रलाप की बात से उनकी विचार की तरंगें हिलोरें लेने लगीं। हठात् एक विचार गोली की तरह उनके कपाल में आकर घुस गया। कुछ ठहरकर वह बोले—"कौन भूदेव?"

शशि ने स्वामी का हाथ पकड़ लिया, और उसकी ओर देखकर कहा—"उस दिन की बात क्षमा कर दी?"

"किस दिन की बात?"

रोगी ने अधीरता से कहा—"भूल गए? भूल गए?

ओह ! कितना आँधी-पानी था । तुम कहाँ थे ?—पानी ।" स्वामी ने पानी माँगा । जल्दी से शारदा ने पानी दे दिया । शारदा को देखते ही शशि ने कहा—"यह भी आई है ?"

"यह कौन हैं, जानती हो ?"

"सरला ! सरला ! इसे तुम भूल गए ?"

गृह-स्वामी उठने लगे, पर शशि ने बिजली की तरह लपककर उन्हें पकड़ लिया ।

"अब न जाने दूँगी ।"

"जाता नहीं, डॉक्टर को बुलाता हूँ ।"

"वह तो आ गई । अरे, कहाँ गई—" यह कहकर वह अपने चारो ओर देखने लगी । उस समय गृह-स्वामी के चित्त की विचित्र दशा थी । उनके मुख पर घोर दुःख के साथ एक कठोर अलक्षित भाव छा रहा था । इशारे ही से उन्होंने सुंदर बाबू से डॉक्टर बुला लाने के लिये कहा । वह चले गए । उनके पीछे ही शारदा भी कमरे से निकल गई ।

निराला पाकर गृह-स्वामी बोले—"देखो, तनिक सावधान हो, कुछ बात पूछता हूँ ।" रोगी ने हाथ झटककर कहा—"उसी ने भेजा होगा ! हटो ।" इतना कहकर उसने चादर उठाकर फेंक दी, और वह खाट पर बैठ गई । गृह-स्वामी ने बड़ी मुश्किल से उसे पकड़कर खाट पर लिटाया ; पर उसका बल देखकर वह चकित हो गए । थोड़ी देर के लिये शशि फिर मूर्च्छित हो गई ।

गृह-स्वामी ने अत्यंत शून्य दृष्टि से चारो ओर देखा। इसके बाद वह खाट पर आ बैठे। घड़ी खट-खट कर रही थी। समय देखकर उन्होंने चम्मच में दवा लेकर उसके मुँह में डाल दी। दवा पीते ही रोगी फिर कराहने लगा। स्वामी ने पूछा—"क्या हाल है?" पर जवाब कुछ नहीं। वह फिर मूर्च्छित हो गई। बीच-बीच में मुँह से कुछ निकल जाता था, जिसका एक तो कुछ अर्थ ही न होता था, फिर जो कुछ अर्थ वह समझते थे, उससे उनका हृदय दग्ध हो जाता था।

डॉक्टर साहब आ गए। रोगी को अच्छी तरह देखकर वह बोले—"अफ़सोस है, ज्वर के साथ ही रोगी के प्राण-नाश की संभावना है! अब इसके बचने की कोई आशा नहीं।"

"अभी बक रही थी।"

डॉक्टर ने उपेक्षा से कहा—"हाँ।"

"ज्वर कब उतरने की संभावना है?"

"आज ४ बजे प्रातःकाल।"

गृह-स्वामी ज़ोर से रो उठे—"तो क्या अब सिर्फ़ ६ घंटे ही मेरा-इसका साथ है?"

सुंदरलाल से यह न देखा गया। वह बाहर चले आए। डॉक्टर ने भी ढाढ़स देकर अपनी राह ली। धीरे-धीरे रात गंभीर होने लगी। सब सो गए। रोगी के पास शारदा, सुंदरलाल और गृह-स्वामी बैठे हैं। गृह-स्वामी ने आग्रह

करके दोनो से सो जाने के लिये कहा। सुंदरलाल बोले—

"नहीं, आप तीन दिन से नहीं सोए। थोड़ा सो लें, फिर हम सो रहेंगे—तब तक बैठे हैं।"

वाद-विवाद के अनंतर उन्हें दोनों का यह अनुरोध मानना ही पड़ा, वह उठकर चल दिए।

सुंदर बाबू बोले—"देखो तो, अब क्या दशा है।"

शारदा ने जाकर देखा, शशि जग रही है, और उसके नेत्र प्रकृत हैं। वहीं बैठकर उसने कहा—"बहन शशिकला!"

रोगी ने कुछ काल देखकर कहा—"शारदादेवी!"

"हाँ, अब जी कुछ अच्छा है?"

"हाँ, पर अब मैं एकआध घड़ी की ही मेहमान हूँ! स्वामीजी कहाँ हैं, उन्हें बुलाओ तो।" सुंदरलाल दौड़े गए।

शशि बोली—"समय नहीं है। मेरी देखने और बोलने की शक्ति जा रही है। एक गुप्त बात सुन लो। तुम मुझे क्या समझती हो?"

शारदा सहम गई, पर धीरज से बोली—"प्यारी बहन!"

"पर मैं तुम्हारी नाशकारिणी हत्यारी राक्षसी हूँ!"

शारदा समझी, यह वायु में बक रही है। उसने कहा—"अच्छा, ज्यादा मत बोलो, सिर खराब हो जायगा।"

शशि बोली—"मैं बेहोश नहीं हूँ। सच बात है। मैंने ही तुम्हारे स्वामी को छीनकर तुम्हें विधवा बनाया है।"

यह क्या ? तीन दिन पहले की आशंका आकर खड़ी हो गई।

इतने ही में सुंदरलाल गृह-स्वामी को साथ लेकर आ पहुँचे। उन्हें देखते ही शशि ने हाथों से अपना मुँह ढक लिया। गृह-स्वामी खाट पर बैठ गए, और बोले—"अब कैसा जी है ?"

शशि ने कहा—'पापिनी, अपराधिनी, अब सदा के लिये जाती है, इसे क्षमा कर दो।"

स्वामी बोले—"ऐसी अधीरता क्यों ?" उनकी आँखों में आँसू आ गए, पर साथ ही नर्मी भी उड़ गई।

शशिकला बोली—"स्वामी ! मैं आपके चरणों की धूलि छूने के योग्य भी नहीं हूँ।"

वह चुप रहे, और कुछ देर में बोले—"यह लड़की कौन है ?"

"मेरी पुत्री।"

"सो तो समझ गया, पर मैं तो इसे नहीं जानता।"

"यह आपकी औरस संतान नहीं है।"

गृह-स्वामी का शरीर काँपने लगा। पर उन्होंने धीरज से कहा—"यह भी समझ गया, पर यह यश कहाँ से कमाया है ?"

"विवाह से प्रथम तुम्हारे मित्र भूदेव से मेरा प्रणय था। हम दोनो की परस्पर विवाह करके रहने की इच्छा थी। यही प्रतिज्ञा भी थी; पर उनके पिता ने जबरदस्ती हरिवंश-

रायजी की कन्या शारदादेवी से—जो सामने खड़ी हैं—ब्याह कर दिया। इसके बाद अगली रात को वह मुझे लेकर भाग गए। तब चार मास का गर्भ था। पीछे यह कन्या हुई, तब कलंक के अनुताप से मैंने उन्हें बहुत खरी-खोटी सुनाईं। उसी दिन रात को क्रोध और दुःख से वह चल दिए। बड़ी आँधी-पानी की रात थी। वह फिर नहीं आए, न खबर मिली। मैं घर लौट आई, और फिर मेरा तुम्हारे साथ ब्याह हो गया। मैंने हज़ार सिर पटका, पिताजी से सब साफ़-साफ़ कह दिया; पर मेरा ब्याह न रुका। ब्याह हो गया। फिर मैंने आपके घर न आना चाहा। प्रथम तो उन्होंने बहुत ज़ोर दिया, पर जब देखा कि मैं मरने को तैयार हूँ, तो बीमारी का बहाना करके रख लिया। पर अंत में दो वर्ष बाद मुझे आपके घर आना ही पड़ा। धीरे-धीरे आपके अकपट प्रेम और आदर ने मुझे वह सब भुलाने को मजबूर कर दिया।"

शारदादेवी खड़ी थीं। उनका मग़ज़ भिन्नाने लगा। वह दोनो हाथों से सिर पकड़कर वहीं बैठ गईं। सुंदरलाल की आँखों में पानी भर आया। गृह-स्वामी की विचित्र दशा थी। उनका शरीर थर-थर काँप रहा था। कभी मुँह लाल हो जाता, और कभी पीला पड़ जाता। बात सुनकर वह कुछ काल तक अचल बैठे रहे। फिर बोले—"तो तुमने यह बात अपने हृदय में इतने दिन तक कैसे छिपा रक्खी?

तुम्हारा हृदय ऐसा कलंकित था, इसका तो कभी स्वप्न में भी आभास नहीं मिला। अब भी इस बकवाद पर एकाएक विश्वास नहीं होता।"

शशि ने कहा—"बस-बस, अब कलंकिनी को और अविश्वासिनी मत बनाओ। पहले मेरी इच्छा थी कि सब बातें आपसे कहकर उनकी खोज में भाग जाऊँ, पर आपका प्रेम क्या ऐसा-वैसा था। मैं उसमें मोह गई—उसी के लालच में फँस गई। पापी हृदय में वैसा बल ही कहाँ से आता? मैंने देखा, ऐसा राज्य छोड़कर उस भटकने में क्या रक्खा है, जिसमें पद-पद पर भय, लज्जा, संकोच और अवहेलना है।" इतना कहते-कहते शशि फूट-फूटकर रोने लगी।

इस पर स्वामी की दृष्टि और भी कड़ी हो गई। वह बोले—"अभागिनी, तैंने अपने स्वामी को ही धोखा दिया!" अब की बार उसके मुख पर कुछ तेज-सा छा गया। वह बोली—"नहीं, मैं आपके सामने उतनी अपराधिनी नहीं हूँ। अपराध या विश्वासघात, जो कुछ भी कहिए, मैंने भूदेव के ही साथ किया है। आपकी अर्धांगिनी होकर मैं तन-मन से आपकी दासी हो गई थी।"

इस भाषण की तीव्रता गृह-स्वामी से न सही गई, पर वह चुपचाप बैठे रह गए। अब एक शब्द भी उनके मुख से नहीं निकला। रोगी ने पानी माँगा। अब की बार गृह-स्वामी ने उसे सहारा देकर न उठाया। पहले का पिया हुआ जठा

पानी बच रहा था, उसी को अश्रद्धा से उस असमर्थ रोगी के मुख में डाल दिया! उसका अधिकांश बाहर गिर गया। शशिकला पति की यह अवहेलना सह न सकी। उसके नेत्रों से आँसुओं की धारा बहने लगी।

शारदा से यह न देखा गया। उसने दौड़कर रोगिणी का सिर उठाकर अपनी गोद में रख लिया, और पानी फिर पिला दिया। शशि ने अत्यंत अनुनय की दृष्टि से शारदा को देखा। शारदा भी रो पड़ी। शशि ने क्षीण, किंतु सतेज स्वर में स्वामी से कहा—"नाथ, शराब और अफ़ीम-जैसी भयंकर प्राणनाशकारी विषैली वस्तु भी जब एक बार किसी के मुँह लग जाती है, शरीर का नाश करते रहने पर भी एकाएक नहीं छूटती। उसकी हुड़क मरते-मरते तक बनी रहती है। मैं तो उससे अधिक भयंकर और विषैली नहीं हूँ? तुमने जीवन-भर प्राणों से भी अधिक प्यार किया है। तुम्हारी दासी बनकर मैंने हृदय से तुम्हें चाहा है। अब मरती बार अपराध क्षमा न करके घृणा करोगे, तो तुम्हारा सारा पुण्य लुप्त हो जायगा। मेरी आत्मा भी नरक में जला करेगी।" इतना कहकर वह चुप हो गई। गृह-स्वामी चुपचाप नीचे देखते रहे।

अब रोगी की बेचैनी बढ़ने लगी। उसने कपड़े फेंक दिए। गृह-स्वामी ने उन्हें भी न सँभाला। एक हिचकी आई, और उसने कहा—"स्वामीजी, मैं चली।"

अब उनसे न रहा गया। उन्होंने उसकी छाती पर हाथ धरके कहा—"प्यारी मेरी! तुम्हें पाकर मैं अपने को महाभाग्यवान् समझता था। मैंने अपना सुख-संपत्ति, आशा-विश्वास और प्रेम सभी कुछ तुम पर न्योछावर कर दिया था। तब मुझे ज्ञान भी नहीं था कि तुम पराई जूठन हो। हाय! जब इतने दिन यह बात छिपी रही थी, तो अब तुमने इसे क्यों कह दिया? तुम तो मेरे हृदय में ऐसी चिपट रही हो कि छुटाने से प्राणांत-कष्ट होता है। मेरी स्त्री पुंश्चली है, जब लोग यह जानेंगे, तो क्या कहेंगे?" इतना कहकर वह बिलख-बिलखकर रोने लगे। शशि की आँखों से भी ढर-ढर पानी बरस रहा था। अब उसकी दशा बिगड़ चली। श्वास देर-देर से आने लगी। हिचकी बढ़ गई। सुंदरलाल ने अत्यंत मर्माहत होकर कहा—"देखो, अब इस अभागिनी का अंत-समय आ गया है। मरनेवाले से किसी का क्या वैर? मेरे दयालु मित्र! इसे क्षमा कर दो।" यह कहकर सुंदर बाबू फूट-फूटकर रोने लगे।

अब तीनो टकटकी बाँधकर उसकी ओर देखने लगे। संकेत से उसने पानी माँगा। शारदा ने उसके मुख में पानी डाल दिया। वह पानी पीकर, हाथ जोड़कर शारदा की ओर देखने लगी। कुछ कहना चाहा, पर कहा न गया। आँखों से टप-टप आँसू टपकने लगे। फिर बोली—"स्वामी ने क्षमा नहीं किया, पर दयामयी! तुम क्षमा……" शब्द रुक

गया। शारदा फूट पड़ी। उसने हिचकी लेते-लेते कहा—"ईश्वर तुम्हें शांति दे। मैंने क्षमा किया बहन! तुम्हारा अपराध ही क्या है? सब मेरे भाग्य का दोष था।"

गृह-स्वामी ने कहा—"शशि! तुम बच जाओ, तो मैं तुम्हें कलंकिनी जानकर भी हृदय से लगाऊँगा। तुम्हारे बिना तो मैं मर जाऊँगा!"

शशि ने अत्यंत क्षीणता से कहा—"ऐसे देवता स्वामी को छोड़कर मरने को जी नहीं चाहता, पर अब चाहने से क्या।" अब रोगी बिगड़ चला। उसकी आँखें पथरा गईं। श्वास अटकने लगी। शशि ने स्वामी की ओर हाथ जोड़कर कातरता से देखा। गृह-स्वामी अब आपे में नहीं थे। उन्होंने बड़े कष्ट से कहा—"क्षमा किया, और कुछ इच्छा हो, सो कहो।"

रोगी के मुख पर प्रसन्नता छा गई, पर वह देर तक न रही। कुछ कहने की चेष्टा की, पर गों-गों के सिवा कोई स्पष्ट शब्द न निकला। दो हिचकियाँ आईं, और मुँह में कुछ झाग भर आए। उसके साथ ही आँखें पलट गईं। अभागिनी शशि सदा को चल बसी! गृह-स्वामी कटे रूख की तरह उसके ऊपर गिर पड़े। घड़ी में उस समय पाँच बजने में कुछ कसर थी।

पंद्रहवाँ परिच्छेद

दस दिन बाद शारदा आज लौट आई है। उसका मुख डाल से टूटे हुए बासी गुलाब की तरह कुम्हला रहा है; न उसमें रस है, न मिठास। सुंदरलाल भी अत्यंत. खिन्न और सुस्त है। शारदा आकर चुपचाप आँगन में बैठ गई है। सरला ने सुना कि शारदादेवी आई हैं। वह धीरे-धीरे उठकर वहाँ आई, पर आज चुंबक की तरह दोनो एक दूसरे की गोद में न चली गई। शंका, लज्जा और अनुताप से सरला मरी जाती थी, और दुःख, जलन, निराशा से शारदा आहत हो रही थी। सरला आकर नीचा सिर किए खड़ी हो गई। शारदा ने उसे एक बार देखकर धीरे से कहा—"बैठ जा सरला।" पर सरला खड़ी ही रही। शारदा ने भी उस ओर न देखा। सरला इस व्यवहार से बड़ी मर्माहत हुई। उसे घटना का तो कुछ ज्ञान था ही नहीं। वह बोल उठी—"मा! क्या सरला अब तुम्हारे आदर की पात्री नहीं है?" शारदा ने अत्यंत उदास होकर कातर स्वर से कहा—"क्यों?"

"वह जार-पुत्री है न?" यह कहकर सरला फूटकर रोने लगी।

शारदा ने झपटकर उसे गोद में उठा लिया, और

कहा—"ऐसी बात ? मेरी प्राण ! अब तुम्हीं तो मेरी आशा की लड़ी हो। अब तक ग़ैर की तरह रही है। मुझे क्या ख़बर थी बेटा कि तू मेरी ही है।" यह कहकर शारदा ने उसे छाती में छिपा लिया। सरला कुछ शांत होकर बोली—"यह क्या ? मेरी असली मा तो तुमने देख ही ली, फिर भी तुम ऐसी बात क्यों कहती हो ?"

"असली मा तेरी मैं हूँ, सरला प्यारी। उस बात को अब तू भूल ही जा।" कुछ देर तक सरला दोनों हाथों से मुँह ढाँपकर रोती रही। शारदा बड़ी दुःखित हो रही थी। सरला ने उसे और भी मर्माहत कर दिया। अंत में सरला ने कहा—"क्या बात सब पर प्रकट हो गई ?"

शारदा ने धीरे से कहा—"हाँ।"

सरला ने एक ठंडी साँस लेकर कहा—"अब वह कैसी है ?"

"वह अभागिनी अब संसार में नहीं है।"

सरला हड़बड़ाकर उठ खड़ी हुई—"हाय ! यह क्या हुआ ?"

शारदा ने सरला की पीठ पर हाथ रखकर कहा—"शांत हो बेटा ! होना था, सो हो गया। अच्छा ही हुआ। अब उसका मरना ही अच्छा था। इसी में उसकी भलाई थी।"

सरला बोली—"क्या उसने विष खा लिया ?"

"नहीं, उस समय से वह घोर सन्निपात में जो ग्रसित हुई, तो फिर न उठी, पर मरती बार बात साफ़-साफ़ कह गई।"

सरला के आँसू बह रहे थे। उसने कहा—"और गृह-स्वामी की क्या दशा है?"

शारदा ने रोते-रोते कहा—"वह पागल-जैसे हो गए थे। कहीं निकल गए। हम लोगों ने बहुत रोका, पर उन्होंने एक न सुनी। वह अपनी सब संपत्ति तेरे नाम लिख गए हैं।"

सरला चिल्लाकर रो उठी—"हाय! वह भी चले गए। हाय! मैं अपनी मा को एक बार मा कहकर भी न पुकार सकी।"

यह कहकर सरला बिलख बिलखकर रोने लगी, और फिर अपने कमरे में जाकर उसका दरवाजा बंद करके, खाट पर मुँह ढककर पड़ गई। शारदा भी दुःख के मारे द्वार बंद कर चुपचाप पड़ रही। उस विषाद-सागर में किसी को किसी की खबर न रही।

"बाल कृष्ण"

सोलहवाँ परिच्छेद

रात को आठ बजे सुंदरलाल महाशय ने अत्यंत करुणा-पूर्ण स्वर में शारदा को समझा-बुझाकर कुछ खाने को विवश किया। तब सबको सरला की याद आई। शारदा बोली—"सरला कहाँ है ?"

"उसे तुम्हीं बुलाओ। वह अपने कमरे में द्वार बंद किए पड़ी है। कैसा घटना-चक्र मिला है। सुरेश बाबू भूदेव के बिना भोजन भी नहीं करते थे। उन्हीं की स्त्री से उन्होंने यह व्यवहार किया। अपनी विवाहिता का कुछ ध्यान नहीं किया। जन्म से भूदेव मेरे साथ खेला है, पर उसकी आत्मा ऐसी है, यह तो कभी खयाल भी नहीं हुआ था।" यह कहते-कहते सुंदरलाल के होठ फड़कने लगे; पर तुरंत ही आँखों में पानी भरकर उन्होंने कहा—"बहन, मैंने ही तुम्हारे सुख-सौभाग्य में लात मारी है। ब्याह से प्रथम ही मैं जान गया था कि वह इस विवाह से राजी नहीं हैं। तभी मुझे पिताजी से सब कुछ कह देना चाहिए था।"

शारदा रो रही थी। रह-रहकर उसके मन में आता था कि भाई का मुँह बंद कर दूँ। अंत में जैसे-तैसे अपने विचार बटोरकर उसने कहा—"अब कितनी बार इस

बात को कहोगे ? जिस बात से कोई लाभ नहीं, उसे बार-बार कहने से क्या है ? जो होना था, सो हो चुका।" यह कहकर शारदा सरला को बुलाने चली गई।

सरला की आँखों में न आँसू थे, न नींद ; पर उनमें विषाद का हलाहल अवश्य भरा था। शारदा को देखते ही वह बैठी रह गई, और एकटक उसकी ओर निहारने लगी। क्षण-भर शारदा भी निश्चल रही। फिर उसने धीरे-धीरे आगे बढ़कर सरला का सिर अपनी गोद में छिपा लिया। आँसू उसकी आँखों में भी नहीं थे, पर उनका धुआँ हृदय को घोट रहा था। अंत में एक लंबी श्वास के साथ वह निकल गया। शारदा ने सरला को ओर से छाती से लगा लिया। कुछ ठहरकर शारदा ने प्यार से कहा—"बेटा सरला !" सरला ने धीरे से सिर उठाकर शारदा के मुँह की ओर देखा। शारदा बोली—"जो होना था, सो हो गया। अब इस उदासी में क्या है बेटा ?" यह कहकर शारदा पलँग पर बैठ गई। सरला अब भी उसकी गोद में थी। उसने अत्यंत करुणा से कहा—"मेरे भाग्य में जार-पुत्री होने का कलंक लिखा था। जन्म से अब तक माता का सुख नहीं मिला। अपनी मा से एक बार मा भी न कह पाई, और पिता का तो कुछ पता ही नहीं। वह कौन हैं, कहाँ हैं, और हैं भी, या नहीं।"

शारदा की आँखें फिर भर आईं। अपने उमड़ते हुए

दुःख को बड़े वेग से रोककर वह बोली—"तू सर्वथा निर्दोष है। प्यारी सरला! इस लोक में ऐसी आत्मा कहाँ मिलती है? फिर तेरी मा तो मैं यहीं बैठी हूँ। तूने कहा था न कि तुम मेरी मा हो?"

सरला चुप रही। इन कल्पित वाक्यों से उसे ढाढ़स न हुआ। कुछ देर में वह बोली—"वह भी चले गए। जाने कहाँ चले गए? मैं उन्हें ही पिता मानकर माता के अभाव में उनकी सेवा करती।"

इस बात से शारदा का जी छटपटा उठा। उन्होंने तनिक उद्वेग से कहा—"क्यों बेटा! अपने पिता पर इतना वैराग्य क्यों? तुम्हारी माता ने उन्हें भुलाकर दूसरा ब्याह करके सुख भोगा, पर तुम्हारा महात्मा पिता तो केवल उसी के लिये सब कुछ त्यागकर मिट्टी में मिल गया है। तुम्हारी पवित्रात्मा तुम्हारी कुलटा माता को तिरस्कार कर सकती है, पर तुम्हारा महात्मा पिता तो पवित्रता और स्वर्गीय प्रेम का आदर्श है।"

अपनी मृत माता की निंदा सुनकर उसे रोष आ गया। पर ज्यों ही कोई कठोर बात कहने को उसने मुँह उठाया, तो देखती क्या है कि शारदा का मुख तेज से व्याप्त हो गया है—उस पर नजर नहीं ठहरती। फिर भी उसने तनिक विमन से कहा—"देवी, जो मर गया, अब उसे कोसने से क्या है? अपनी माता की हृदय-हीनता पर मुझे क्रोध

होना स्वाभाविक ही है, पर वह तो आपकी प्रिय सहेली थीं। उनकी मृत आत्मा पर आपकी ऐसी अनादर-बुद्धि क्यों? अंत में तो वह मेरी पूज्या माता ही थीं। मैं ही अभागिनी हूँ। एक बार वह मुझे मेरी झोपड़ी में जाकर गोद में बैठाती थीं, तब उनका तिरस्कार किया, और उस दिन भी उन्हें मर्माहत किया। मेरे अभाग का भी कुछ ठिकाना है! पहले तो माता की गोद नसीब ही नहीं हुई, फिर प्राप्त भी हुई, तो भाग्य ने ढकेलकर धूल में डाल दिया! पिता का तिरस्कार क्यों करती? पर उनका पता-ठिकाना कहाँ है? काका लोकनाथ कहा करते थे कि १५ वर्षों तक भिन्न-भिन्न स्थानों से उनके भेजे हुए रुपए आते रहे थे, फिर वह भी बंद हो गए। क्या जाने, वह मरे हैं या जीते।"

आख़ीरी बात सरला के मुख से निकली ही थी कि शारदा ने डपटकर कहा—"चुप रह सरला! छोटा मुँह बड़ी बात? अपने देवता पिता के लिये ऐसी अमंगल-भावना! छिः!" सरला चौंक पड़ी। आज तक शारदा क्या, किसी ने भी उसका ऐसा तिरस्कार नहीं किया था। पहले तो वह शारदा की ओर भौंचक-सी देखती रही। फिर यह देखकर कि शारदा के मुख पर अत्यंत कठोर दृढ़ता विराजमान है, वह नीचा सिर करके रो उठी। उसने धीरे से कहा—"अमंगल-भावना क्यों देवी! पर उन्हें कोई जानने-पहचाननेवाला भी तो नहीं है।"

शारदा ने व्यग्रता से सरला का हाथ पकड़कर कहा—"क्यों सरला, अब तू मुझे मा नहीं कहती ?"

सरला ने आँसू भरकर कहा—"मेरी मा तो मर गई।"

"और मैं ?"

सरला ने तनिक शंकित होकर कहा—"आपने भी मा की ही तरह कृपा की है।"

"केवल कृपा, सरला ?"

सरला ने काँपती हुई आवाज़ से कहा—"प्यार भी।"

शारदा के नेत्रों का प्रकाश बुझ गया। उसने अत्यंत करुणा से कहा—"सरला बेटी, मैंने जो मा की तरह तुझे प्यार किया है, और तूने जो मुझे मा समझ रक्खा है, यह झूठ बात नहीं है। मेरा भी तुझ पर अधिकार है। असल में तो तू मेरी ही संतति है। तेरे पिता यह बात जानते हैं।"

सरला यह सुनकर अकचकाकर बोली—"आप यह क्या कहती हैं। क्या यह भी कोई रहस्य है ? मेरे पिता जानते हैं, पर वह कौन और कहाँ हैं, यही कौन जानता है ?"

"वह कौन हैं, यह बात जाननेवाले भी हैं।"

"कौन ? जल्द बताइए।" सरला एकदम उठ खड़ी हुई। शारदा ने शांत स्वर से कहा—"एक तो मैं ही हूँ।"

सरला का मुँह सूख गया। उसकी जीभ तालू से सट गई। हड़बड़ाकर उसने कहा—"आप मेरे पिता को जानती हैं ?"

शारदा ने वैसी ही शांति से कहा—"हाँ।"

कुछ देर तक सरला अचरज से शारदा का मुँह देखती रही। फिर बोली—"क्या आप सत्य कहती हैं ?"

शारदा उठ खड़ी हुई, और उसने पकड़कर कहा—"मेरे साथ आ।" दोनो दूसरे कमरे में गईं। यह वही कमरा था, जहाँ दोनो का पहलेपहल मिलाप हुआ था। शारदा भूदेव के चित्र के पास खड़ी होकर बोली—"इस चित्र को तो देख।"

"इसे तो कितनी ही बार देखा है !"

"पहचाना भी या नहीं ? किसका है ?

सरला के पेट में हौल उठ रही थी। उसने कहा—"नहीं, यह कौन हैं ?"

"तुम्हारे पिता और मेरे स्वामी।"

सरला अवाक् रह गई। उसने पागलों की तरह कहा—"यह क्या ? यह क्या ?" अब शारदा से न रहा गया। उसने खींचकर उसे छाती से लगा लिया, और वह फूट-फूटकर रोने लगी।

शारदा ने उसका हाथ पकड़कर कहा—"अब समय आ गया है कि सारी बातें तुझे सुना दूँ। आ, ध्यान से सुन।" यह कहकर दोनो बैठ गईं। कुछ ठहरकर शारदा ने एक काँपती-काँपती श्वास ली। फिर कहना प्रारंभ कर दिया—

"पचास वर्ष से ऊपर हुआ, यहाँ प्रयाग के दारागंज में देवकरन-नामक बड़े भारी कोठीवाले रहते थे। उनका लाखों

का कार-बार था। वह बड़े साधु और सज्जन पुरुष थे, पर उनके कोई संतान नहीं थी। मेरे पिता उनके प्रधान कारिंदे थे। मेरी माता के एक भाई थे। वह साधारण गृहस्थ की तरह देहात में अपना काम-काज चलाते थे। कुछ वैसे अमीर न थे। उनके एक कन्या हुई। इसी में उनकी स्त्री चल बसी। कन्या की आयु शेष थी, वह बच रही। अंत में ३ वर्ष की बालिका को अनाथ करके वह स्वयं भी चल बसे। तब मेरी माता के आग्रह से, और कोई उपाय न देखकर, उस कन्या को पिता अपने घर ले आए। उन दिनों मैं बहुत छोटी थी, दूध पीती थी। वह कन्या बड़ी चपल थी। हम दोनो शीघ्र ही हिल-मिल गई।

"देवकरनजी पर पिताजी का बड़ा प्रभाव था। वह उन्हें बहुत मानते थे। जब उन्होंने मेरे मामा के मरने का हाल सुना, तब उन्हें बड़ा दुःख हुआ, और उस अनाथ बालिका पर उन्होंने बड़ा प्यार किया। जैसा मैं कह चुकी हूँ कि वह कन्या बड़ी सुंदर और चपल थी। वह सदा मुझे मारा करती थी—मेरी मिठाई छीनकर खा जाती थी। मैं सोचती थी, जाने दो, इसे ही खा लेने दो। कभी कभी जब मैं अपनी मा से उसके मारने-पीटने की या अत्याचार की बात कहती, तो वे मुझसे कहती—'बेटा, तेरा तो यह घर ही है; यह बेमा-बाप की है, इसकी चार बातें सह लेनी चाहिए। यह किससे फ़रियाद करेगी? बेचारी के न मा है, न बाप।' ऐसी

बात सुनकर मुझे उस पर ऐसी दया आ जाती कि मैं सारा मान भूलकर उलटा उसे ही मनाने लगती, और प्रसन्न रखती। पर फिर भी वह फूली ही रहती, और कभी दया या न्याय से न बर्तती। मुझे क्रोध तो आता, पर माता की वही बात याद आ जाती—'अरे, इसका तो कोई भी नहीं है, यह कहाँ जाकर फ़रियाद करेगी?'

"एक दिन जाने क्या सेठजी के मन में आई, उन्होंने पिताजी से कहा कि 'तुम यह कन्या मुझे दे दो। मेरे कोई बालक नहीं है। मैं ही इसे पाल लूँगा—बड़ी ही सुंदर लड़की है।' जब पिताजी ने माता से सलाह की, तो उन्होंने कहा—'हमें तो इसका सुख चाहिए। अच्छा है, कहीं रहे, सुखी रहे।'

"कन्या उन्हें दे दी गई। यही कन्या तुम्हारी मा शशिकला हैं।

"पिता के एक परम मित्र थे। वह राज्य में सरकारी नौकरी करते थे। वह बहुधा हमारे घर पिताजी से मिलने आया करते थे। उनके साथ उनका ११ वर्ष का पुत्र भी आता था।"

इतना कहकर शारदा चुप हो गई। उसकी आँखें मिच गईं, श्वास फूलने लगी। मानो कोई स्मृति उसे बड़ी वेदना दे रही हो। फिर एक श्वास लेकर वह कहने लगी—

"वह तो पिताजी से बात करने लगते, और वह बालक हमारे पास खेलने लग जाता। शशि भी बहुधा हमारे

घर रहती थी। वह तो बढ़िया-बढ़िया कपड़े पहनकर इतराती आती—चंचलता और घमंड से अकड़कर बोलती; पर मैं उसे वैसे ही स्नेह से देखती। क्योंकि मुझे उसे देखते ही सदा मा की वह बात याद आती कि बेचारी के कोई नहीं है। मैं इस बात को तो स्वप्न में भी न समझ सकी कि अब यह मेरे मालिक की कन्या है।

"मेल बढ़ जाने से हम तीनो कभी-कभी गंगा की रेत में खेलने और किलकारियाँ मारते उछलते-कूदते फिरते थे; पर वह मुझसे अधिक उसी पर स्नेह दिखाते—उसी की जिद रहती। यह शायद उसके सुंदर रूप, बढ़िया वस्त्र और बड़े घर के कारण हो! पर इससे मैं ख़ुश ही होती। मैं मन-ही-मन कहती—अच्छा है, इस बेचारी के कोई नहीं है, इसका जी बहलेगा। वे दोनो बालू में बैठे हुए घर बनाया करते, और मैं पानी ला-लाकर उनके घर में डालती, या माला गूँथ-गूँथकर उन दोनो को पहनाया करती। ज्यों-ज्यों आयु बढ़ती गई, त्यों-त्यों ये मिट्टी के खेल बंद होते गए, और नए-नए खेल निकलते गए। उन्हें चित्र-विद्या के अभ्यास की बड़ी धुन थी। वह जब चाहे कोयला, लकड़ी, पत्थर, गेरू जो हाथ लगता, उसे ही लेकर कभी दीवार पर, कभी धरती पर, कभी रेत पर और कभी कीचड़ में चिड़ियों, मछलियों और बंदरों के चित्र बनाया करते थे।"

इतना कहकर शारदा फिर मर्माहत होकर चुप हो गई।

सरला पत्थर की तरह निश्चल बैठी थी। मानो उसमें जान ही नहीं थी। उसने कुछ देर होती देखकर कहा—"फिर ?"

शारदा फूटकर रो उठी, पर फिर शांत होकर कहने लगी—"एक दिन—हाय! वह कैसा दिन था—संध्या के समय वह मेरा चित्र बनाने बैठे।" अचानक शारदा चुप हो गई। फिर एक गहरी श्वास लेकर उसने कहा—"व्यर्थ की बातों में क्या है सरला, अंत में मेरे पिता ने उन्हीं से मेरी सगाई कर दी। तब से मेरा मिलना-जुलना बंद हो गया। कुछ तो घर के लोग रोकते और कुछ मैं स्वयं ही लाज से छिपी रहती। पर शशिकला उनसे बराबर मिलती रही। अब खेल तो बंद हो गया था, पर वह उसे पढ़ाने के लिये बराबर आया करते थे। प्रथम तो उन्होंने इच्छा प्रकट की कि मैं भी साथ ही पढ़ा करूँ, पर लाज से मैं न गई; और माता ने भी यह बात पसंद न की।

कुछ दिनों बाद विवाह की बात चली। दोनो तरफ़ के पिता तैयार थे; पर उन्होंने टाल-टूल कर दी। मामला किस प्रवाह में बह रहा है, यह किसी को न सूझा था। फिर सुना कि वह उच्च शिक्षा पाने कलकत्ते गए हैं। मुझे किसी बात की चिंता ही क्या थी, मैं शांत भाव से घर रहने लगी। शशि उनका नाम लेकर मुझे चिढ़ाया करती; कभी कुछ करती, कभी कुछ। वह अधिकांश में उन्हीं की बातें करती, और मैं चुप हो रहती—इच्छा रहने पर भी इस विषय में बात

न कर सकती। इन बातों से वास्तव में मुझे प्रसन्नता ही होती; पर मैंने यह कभी नहीं सोचा कि इसे क्यों यह बात अच्छी लगती है। हाय! यही मेरे लिये विष-वृक्ष था।

"कलकत्ते की पढ़ाई समाप्त हो गई। वह घर लौट आए। मेरे भाई भी कलकत्ते में पढ़ते थे, अतः वहाँ उनकी परस्पर गाढ़ी मित्रता हो गई थी। दोनो साथ ही रहते थे। कई बार वह हमारे ही घर सो रहते थे। इस बीच में कितने ही बार विवाह की बात उठी, पर वह टालते ही रहे। इसके लिये एक बार उनके पिता से झगड़ा हो गया। मेरे भाई उनसे अत्यंत स्नेह रखते थे। अधिकांश वह अपने पुराने सहपाठी के यहाँ—जो उन दिनों प्रयाग में ही पढ़ते थे—रहते थे। ये तीनो मित्र अभिन्न-हृदय थे। उन दोनो ने जब ब्याह की बहुत ज़िद की, तो इन्होंने साफ़ कह दिया—'मित्र, यह संबंध मेरे मन का नहीं है। इससे मैं सुखी न होऊँगा, मुझे क्षमा करो।'

"उनकी उदारता, सचाई, दृढ़ता सब जानते थे। सुनकर सब दंग रह गए। भाई उस दिन अत्यंत दुखी होकर घर वापस आए। उस दिन से उनका जी ही उनकी ओर से खट्टा हो गया।

"पर बड़े-बूढ़ों की आज्ञा नहीं टलती। भारी विरोध होने पर भी अंत में विवाह हो गया। विवाह हो गया, पर उन्हें उसमें कुछ भी प्रसन्नता न हुई। मुझे याद है, चौरी में देखने के समय उन्होंने आँखें बंद कर ली थीं।

"विवाह होने पर भी जैसी मैं पहले यहाँ थी, वैसी ही वहाँ रही। कोई परिवर्तन नहीं हुआ। वह न मुझसे बोलते, न बात ही करते। उनके माता-पिता को इससे बड़ी चिंता रहने लगी। उनकी माता अंत में खाट पर पड़कर चल बसीं।"

यहाँ शारदा ने फिर काँपती हुई साँस भरकर कहा—"कुछ ही दिनों में उनके पिता भी परलोक सिधारे, मैं अकेली रह गई। क्रिया-कर्म समाप्त होने पर भी हम लोग उसी उदासीन भाव से रहने लगे। अंत में मुझसे न रहा गया। एक दिन मैंने अत्यंत करुणा से उनके पैर पकड़कर कहा—'स्वामी, मेरा क्या अपराध है, जो मेरी कोई भी सेवा स्वीकार नहीं होती।'

"तीन-चार दिन से उनका जी बहुत ही बेचैन रहता था! इन शब्दों में दो वर्ष का दारुण दुःख भरा हुआ था। मेरे इन शब्दों से उनका हृदय हिल गया। उन्होंने नम्रता से कहा—'तुम्हें किसी वस्तु का कष्ट तो नहीं है, शारदा!'

"मेरी हिलकियाँ बँध गईं। मैंने कहा—'तुम्हारी कृपा नहीं है, तो ये सुख क्या मुझे सुखी कर सकेंगे?' अब तक उन्होंने मेरा मुख नहीं देखा था। आज अचानक आँख उठाकर कहा—'मैंने तो तुम्हें कभी अपमानित नहीं किया है।' मैं चुप हो गई! अपने जी की उन्हें कैसे समझाती! पर आँसू बह रहे थे। अचानक देखा, उनकी आँखें भी भर रही हैं। वे मोती-से आँसू ढर-ढरकर धरती पर गिर गए। इसके बाद

वह तुरंत ही धरती पर लोटकर बालकों की तरह रोने लगे। उन्होंने मेरे पाँव पकड़कर कहा—'देवी, क्षमा करो। मैं तुम्हारे योग्य नहीं हूँ। जीवन में जो पाप कर चुका हूँ, उसे निबाहना ही होगा। तुम्हारा दुःख मैं जानता हूँ, पर दूर कैसे करूँ?' मैंने भी जल्दी से पाँव खींच लिए। मुझसे कुछ कहते ही न बना, मैं केवल रोती ही रही। मैंने समझा, यह जिस पाप की बात कह रहे हैं, वह मुझे कष्ट देना ही होगा। पर हाय, असल बात मैं क्या समझती। अंत में उन्होंने कहा—'बोलो, क्या पाकर तुम्हें सुख होगा?'

"'तुम्हारी दया।'

"यह सुनकर वह करुणा से मेरी ओर देखने लगे। फिर उन्होंने आकाश की ओर देखकर कहा—'हे ईश्वर, बल दे।'

"उस दिन की बातचीत से चित्त कुछ प्रसन्न हुआ। जब मैं भोजन कराने गई, तो कुछ बात करने का बहाना सोचने लगी। अंत में एक बात सूझी। मैंने कहा—'शशिकला का ब्याह है। उसने एक महीने पहले से बुलाया है। आज ही दाई आई थी।'

"उन्होंने अत्यंत उदास भाव से कहा—'अच्छा, चली जाओ। कल मुझे भी काशी की ओर जाना है। दस-पंद्रह दिन लगेंगे। तुम अपने घर रहना।' यही बात पक्की हुई। दूसरे दिन मैं यहाँ चली आई। मुझे यहाँ पहुँचाकर जब वह लौटने लगे, तो एक क्षण-भर ऐसी विलक्षण दृष्टि से उन्होंने

देखा कि मैं काँप गई। वह कैसी दृष्टि (काँपकर) थी, हाय! उसका अर्थ मैं अब समझी।"

इतना कहकर शारदा ने अपने आँसू पोंछ लिए, और फिर बोली—"वह चले गए, और सदा को चले गए। आज २८ वर्ष हो गए, वह फिर न दिखाई पड़े। कहाँ गए, कुछ ठीक नहीं। तब से उस कुबड़ी की याद बराबर रहती है।" यह कहकर शारदा ने अत्यंत विषाद-भरी साँस ले ली। सरला ने देखा कि उसके आँसू सूख गए हैं।

शारदा फिर कहने लगी—"इसके बाद एक दिन सुना कि किसी कारण शशिकला अपने किसी संबंधी के यहाँ चली गई है। ब्याह रुक गया, परंतु पाँच महीने बाद जब वह आई, तो बड़ी दुर्बल हो रही थी। पूछने पर कहने लगी, बड़ी भारी बीमारी हो गई थी, जिसके कारण शीघ्र आना नहीं हुआ। कुछ काल बाद उनके (भूदेव के) उन्हीं मित्र के साथ उसका विवाह हो गया। वह देखते-देखते राजरानी बन गई। यह सब क्या 'गोरख-धंधा' हो गया, और उसके पाँच मास तक ग़ायब होने तथा फिर वापस आने में मेरा क्या संबंध था, सो उस समय मुझे कुछ नहीं ज्ञात हुआ। पर मैं समझती हूँ कि माता-पिता तथा देवकरनजी को सब कुछ मालूम हो गया था। वे बड़े उदास रहते थे। देवकरन भी बड़े चिंतित रहते थे। भाई उन दिनों कलकत्ते में थे। उनकी परीक्षा का समय था, इसलिये वह न आए थे। मैंने

इस उदासी का मतलब समझा कि घर-गिरिस्ती के कितने ही झंझट रहते हैं, इससे यह होगी। पर आज इतने दिनों के बाद उसका रहस्य समझ में आया। तुम्हारे ही पिता उसे ले गए थे, और उसकी वह भारी बीमारी तुम्हारा प्रसव ही था। तुम्हारे पिता से लड़कर और तुम्हें छोड़कर वह चली आई, और ब्याह कर लिया। माता-पिता तथा देवकरन ने अपनी बदनामी के कारण अत्यंत कौशल से यह भेद छिपाए रक्खा। इन २८ वर्षों में मैं कितनी ही बार शशि से मिली, पर उसने एक बार भी न कहा कि उसी ने मेरे सुहाग में आग लगाई है। अब सब घटना समझ में आ गई। तुम्हारा गर्भ यहीं रह गया था। मेरी प्यारी सखी ने मेरा सर्वस्व लूटकर......" शारदा का बाँध टूट गया। वह अब की बार फूट-फूटकर रो उठी।

सरला का रोम-रोम पिघल उठा था। वह दौड़कर शारदा से लिपट गई। उसने कहा—"मा-मा, रो मत। अब शक्ति नहीं है। मेरे प्राण निकल जायँगे। देखो, मैं तुम्हारी बेटी हूँ।"

शारदा ने उसे छाती से चिपटाकर कहा—"बेटी।"

सरला ने कहा—"मा।"

कुछ देर तक शांत रहकर सरला बोली—"फिर तुम्हारे माता-पिता क्या हुए?"

"पिता को मरे १५ वर्ष हो गए। पर मा तो तुम्हारे यहाँ आने के ७ मास प्रथम मरी थीं।"

"और तुम्हारी भौजाई ?"

अब की बार शारदा फिर बिलख उठी। उसने कहा—"हाय! यह बात मत पूछो मेरी बेटी। रोते-रोते मेरा कलेजा निकल पड़ेगा। मेरी मा रोते-रोते अंधी हो गई, और मैं प्रार्थना करते-करते अधमरी हो गई। पर भाई ने ब्याह नहीं किया।"

सरला ने पूछा—"क्यों ?"

"क्यों ? इस अभागिनी के कारण। मैं यों कष्ट पाऊँ, तो उन्हें विवाह-सुख कैसे रुचता ? मेरे भाई धर्म के—दया के—अवतार हैं। वह मा के बहुत ज़िद करने पर कहा करते—'माता, क्यों तंग करती हो ? जब अपनी बेटी घर में बैठी है, तब पराई कैसे लाई जाय ? अपनी के सारे सुख छीनकर क्या हम सुखी होते अच्छे लगेंगे ? मैं अपना जीवन बहन की सेवा में बिताऊँगा।'"

सरला दंग रह गई। ऐसी अनोखी बात ! उससे न रहा गया। उसने शारदा से लिपटकर रोते-रोते कहा—"मा, वह देवता हैं, यह तो जानती थी; पर ऐसे देव-दुर्लभ गुण रखते हैं, यह मैंने स्वप्न में भी न सोचा था।"

सरला कह ही रही थी कि अचानक पीछे से आवाज़ आई—"बेटी सरला, देवतों की क्यों निंदा करती हो ? अपनी लक्ष्मी-सी बहन को जान-बूझकर आग में ढकेलनेवाला यदि देवता माना जाय, तो फिर पिशाच कौन होगा ?"

दोनो ने देखा, सुंदरलाल न-जाने कब से खड़े हुए आँसू बहा रहे हैं। सरला ने दौड़कर उनका हाथ पकड़ लिया, और कहा—"बाबूजी, मैंने ऐसा पुरुष तो आज तक नहीं देखा। देखने की कल्पना भी नहीं की। मैं आपको देखती तो रोज थी, पर पहचानती नहीं थी। हृदय ऐसा अच्छा हो सकता है? बाबूजी, आज से मैं आप ही की पूजा करूँगी।" यह कहकर वह सुंदरलाल के चरणों पर ढुलक गई।

———

सत्रहवाँ परिच्छेद

सरला अब बड़ी उदास रहती है। उसका मुख-कमल सदा मुरझाया हुआ रहता है। सुंदरलाल और शारदा उसका जी बहलाने को बहुत कुछ चेष्टाएँ करते रहते हैं, पर होता कुछ नहीं।

जिन दुःखमयी घटनाओं की बात हम कह चुके हैं, उनके सिवा एक और कष्ट उसके हृदय को मसोस रहा है। वह प्रत्यक्ष देख रही है कि विद्याधर अब उससे उदासीन हैं। वह अब न वैसा अनुराग दिखाते हैं, न उत्कंठा; बल्कि मिलने में ढील-ढाल करते हैं। संसार में केवल जिसके हृदय का अभिनंदन किया था, वही अब उपेक्षा कर रहा है, यह बात याद करके सरला बड़ी उद्विग्न हो उठी है। वह सोच रही है—पहले तो मैंने विवाह की बात सोची भी नहीं थी। उन्होंने ही यह विश्वास दिलाया था कि विवाह से अधिक पवित्र बंधन हमारा हो नहीं सकता। फिर वह कहते हैं—बचपन से वह मुझे याद करते रहे हैं। अब भी वह मिलने पर कैसे अकपट भाव से मिलते रहे हैं। अंत में मुझे उनके हृदय का अभिनंदन करना ही पड़ा। न करती, तो पाप होता, अपराध होता और मैं सुखी न रहती। अब उनके प्रस्ताव

को मैंने स्वीकार कर लिया है—माता ने भी इस विषय में प्रसन्नता प्रकट की है, फिर देर क्यों? जो करना है, उसे अभी कर डालना चाहिए। सभी कहते हैं कि यह बड़ा शुभ कार्य है, फिर शुभ कार्य में देर क्यों?

मेरा जी न-जाने कैसा हो रहा है। चित्त बिलकुल बेचैन है। कुछ नहीं कह सकती कि शांति कहाँ मिलेगी। यदि विवाह से सुख मिले, तो विवाह ही कर लूँगी। मेरा न सही, एक उदाराशय युवक का तो कल्याण होगा।

यह विचारते-विचारते सरला का माथा सिकुड़ गया। उसने सोचा—मेरा भ्रम है या वह सचमुच ही उपेक्षा कर रहे हैं? वह अब आते भी कम हैं। उस दिन यह कहकर तुरंत ही चल दिए थे कि काम जरूरी है, फिर आऊँगा। फिर अब तक फ़ुर्सत न हुई। काम तो पहले भी थे। आज तीन बजे आने को लिखा था, सो तीन की जगह पाँच बज गए। न-जाने और कब तक न आवेंगे। आते, तो आज सारी बात खोलकर कह देती। पर अब कब तक बैठी रहूँ? यह सोचकर सरला ने एक लंबी साँस ली, और उठकर भीतर शारदा के पास चली गई।

सरला को देखते ही शारदा ने बड़े प्यार से कहा—"सरला, कब तक उदास रहेगी?"

सरला बोली—"मा, जो बात चाहना से होती है, उसे तो मनुष्य त्याग दे सकता है; पर जो आप ही

हो गई है, उसे क्या करे ? मैं उदास रहना नहीं चाहती, पर रहती हूँ।"

शारदा एकटक उसकी ओर देखकर बोली—"बीती बात को भूलने से दुःख बहुत कुछ कम हो सकता है।"

सरला ने धीरे से कहा—"बीती बातें होतीं, तो भी एक बात थी।"

शारदा ने चौंककर कहा—"बीती नहीं, तो और क्या है ?"

"मेरा वर्तमान के समान भविष्य भी अंधकार में ही है।"

शारदा ने अत्यंत स्नेह से कहा—"बेटी, तू तो बड़ी समझदार है। दुनिया में अकेला किससे रहा जाता है। इसी से मैंने कहा था कि विद्याधर बहुत योग्य युवक है। उससे तेरा ब्याह हो जाय, तो तुझे बहुत कुछ सुख मिल सकता है। पर तू विचार-ही-विचार में रहती है। अच्छा, यह तो बता, तू ब्याह से डरती क्यों है ?"

सरला ने अत्यंत शांति से कहा—"निश्चय कर लिया है कि ब्याह कर लूँगी।"

इस उत्तर से शारदा बड़ी प्रसन्न हुई। वह कुछ कहना ही चाहती थी कि सुंदरलाल एक पत्र लिए आ पहुँचे। उन्होंने सरला को पत्र देकर कहा—"सरला, विद्याधर तुमसे भेंट करने आए हैं।" सरला ने पत्र पर एक दृष्टि डाली, तो देखा कि उस पर किसी अपरिचित व्यक्ति के हस्ताक्षर हैं। वह सत्य के पत्र की प्रतीक्षा कर रही थी। उसे बिना खोले ही

सरला उठ खड़ी हुई। प्रथम तो उसने सीधे विद्याधर के पास जाने का विचार किया, पर फिर अपने कमरे में जाकर वह पत्र पढ़ने लगी। पत्र सत्य का था, उसमें लिखा था—

"देवी! तुम्हारी चिट्ठी? मुझे तुमने चिट्ठी लिखी? इसकी तो आशा नहीं थी। दो वर्ष हुए, तब से तुमने मुझे एक बार भी याद नहीं किया, पर इसमें मुझे आश्चर्य कुछ भी नहीं है। जो इस प्रकार एकाएक बिना कहे चली जा सकती है, वह इतने दिन तक भूल भी सकती है।

"पर मैं तुम्हें कैसे भूल जाता रानी! भूलकर किसे याद करता? हम आस्तिक लोग परमेश्वर को केवल याद ही करते हैं। मिलना तो उसका परोक्ष में होता है। उसे हम नहीं देख सकते, तो क्या हम उसे भूल जायँ?

"तुम्हारा पता तो मुझे बहुत पहले मालूम हो गया था, पर यही सोचकर नहीं आया कि जब तुम आप ही बुलाओगी, तभी मैं आऊँगा। अब तुमने न आने को लिखा है। अच्छा न आऊँगा। सरले, न आऊँगा। जब तुम्हारी ही शिक्षा से मेरे हृदय ने ऐसा बल प्राप्त किया है, तब क्या मैं तुम्हारी ही इस छोटी-सी आज्ञा को न मानूँगा? मैं न आऊँगा, कभी न आऊँगा। तुम जब लिखोगी, तुरंत उत्तर दूँगा।

अनुरक्त—सत्य"

यह छोटी-सी चिट्ठी तो समाप्त हो गई, पर इसका पढ़ना न समाप्त हुआ। एक बार, दो बार, तीन बार, बार-बार पढ़ी गई। उसकी आँखों में अँधेरा छा गया। चिट्ठी हाथ से

छूट गई। सरला चिल्लाकर बोल उठी—"आओ! चले आओ! तुम्हें क्यों रोकूँगी? हाय! मैंने क्या लिख दिया था।" यह कहते-कहते सरला बेचैन हो गई। फिर कुछ याद करके चौंक पड़ी। अरे, वह कब से बैठे हैं। यह क्या? ऐसी ग़फ़लत! सरला अपना चित्त और वस्त्र सँभालती हुई विद्याधर के कमरे में चली आई।

सरला को देखकर विद्याधर चुपचाप उठ खड़े हुए। सरला ने देखा, उनके मुख पर पहले-जैसी उत्सुकता और लालिमा नहीं है। कुछ ठहरकर सरला ने कहा—"आपकी तबियत तो अच्छी है? मैंने समझा कि अब आप क्या आवेंगे!"

विद्याधर ने तनिक हँसकर कहा—"ठीक ही हूँ, पर देखता हूँ, आपका चित्त भी बहुत उदास है।"

"तिस पर भी आपके दर्शन दुर्लभ हो रहे हैं। मैं नहीं समझती कि मैंने आपका क्या अपराध किया है। फिर मेरा विश्वास है, आप मेरा अपराध भी क्षमा कर देंगे। क्योंकि आप तो जानते ही हैं कि मैं जन्म की दुखिया, अनाथा और असहाया हूँ।" यह कहते-कहते सरला की आँखें भर आईं, और दो आँसू उसके पीले गालों पर से ढरककर धरती पर आ गिरे।

विद्याधर भी तनिक दुःखी हुए, और उन्होंने लज्जित होकर कहा—"देवी, आपसे नाराज़ी कैसी? यों ही इच्छा होने पर भी आपसे जल्दी-जल्दी नहीं मिल सकता हूँ।"

"यह क्यों ? क्या फ़ुर्सत नहीं मिलती ?"

"फ़ुर्सत ? हाँ यह भी बात है।"

"और क्या ?"

विद्याधर ने तनिक गंभीर होकर कहा—"लोग उँगली उठाते हैं।"

"कैसी उँगली ?"

"यही तरह-तरह की बातें कहते हैं।"

"कैसी बातें ? कहिए न ?"

विद्याधर ने अन्यत्र देखते हुए कहा—"लोग कहते हैं कि सरला इसकी कौन है, ऐसी ही बात।"

सरला ने शांति से कहा—"यही बात, बस ?"

"हाँ, ऐसी ही बातें हैं।"

"अच्छा, तो इसका मैंने एक उपाय सोच लिया है।"

विद्याधर ने तनिक व्यग्र होकर पूछा—"क्या ?"

सरला ने युवक की आँखों में आँख गड़ाकर कहा—"मैं तुमसे व्याह करूँगी।"

सरला ने देखा कि उसकी इस अनुपम बात ने युवक के हृदय का द्वार बिलकुल नहीं खटखटाया। जैसे मिट्टी का ढेला पत्थर पर गिरकर बिखर जाता है, वैसे ही सरला की बात भी बिखर गई।

सरला सोचने लगी—यह क्या ? जिस बात को सुनकर इनका हृदय नाच उठना चाहिए, उसे सुनकर यह गुम क्यों

हो गए ? सरला ने फिर कहा—"अब मैंने यही निश्चय कर लिया है। यह हमारे लिये अच्छा ही मार्ग है।"

विद्याधर ने कुछ धीमे स्वर से कहा—"मेरी भी यही अभिलाषा है। पर देखता हूँ, परमात्मा यह कार्य होने न देंगे। कई विघ्न सामने हैं।"

सरला का मुँह सूख गया। उसने कहा—"इसके क्या अर्थ ? मैं तो कोई विघ्न नहीं देखती। मेरी अनिच्छा ही विघ्न थी, सो वह अनायास मिट ही गई।"

विद्याधर ने अत्यंत मधुर स्वर बनाकर कहा—"मैं क्या करूँ ? प्रथम मेरे पिता ही विघ्न कर रहे हैं। उन्होंने लिखा है कि तुम चले आओ, ब्याह ठीक कर लिया है।"

सरला इस वाणी की चोट को सह न सकी। उसने मतवालों की तरह एकटक विद्याधर की ओर देखकर कहा—"ब्याह ठीक कर लिया गया है ? पर तुम तो प्रथम कहते थे कि वह हमारे इस प्रस्ताव से सहमत होंगे।"

"मुझे ऐसा ही विश्वास था, पर उन्होंने सब कुछ सुन लिया है।"

"क्या सुन लिया है ?"

"यही जो आपकी जन्म-संबंधी नई घटना प्रकाशित हुई है।"

सरला का मुख क्रोध, लज्जा और विवशता से एकदम विवर्ण हो गया।

उसने कहा—"प्रथम भी तो मैं अज्ञात-कुलशीला थी।"

युवक से कुछ उत्तर देते न बना। उसने कुछ सिटपिटा-कर कहा—"मैं तो वैसी परवा नहीं करता; पर पिता जातिवालों से डरते हैं।"

सरला का मुख तमतमा आया। उसने उत्तेजित होकर कहा—"तो क्या तुम भी पिता से सहमत हो गए?"

युवक ने लाचारी का भाव दिखाकर कहा—"पिता की आज्ञा का पालन करना मेरा कर्तव्य होना चाहिए। फिर भी मैं उन्हें समझाने की चेष्टा करूँगा।"

"क्या समझाने की चेष्टा?"

"यही कि चाहे जाति चली जाय, पर मैं सरला से ब्याह करूँगा।"

"मेरे साथ ब्याह करने से जाति क्यों चली जायगी? मेरे माता या पिता कुजाति थे क्या? या मैं ही कुछ दूषित हूँ?" यह कहकर सरला तीक्ष्ण दृष्टि से युवक की ओर देखने लगी।

युवक ने कहा—"नहीं, उनकी जाति में तो मैं दोष नहीं कहता; पर आपकी उत्पत्ति जिस संबंध से हुई, उस संबंध को समाज घृणा की दृष्टि से देखता है।"

सरला क्रुद्ध सर्पिणी की तरह चपेट खाकर बोली—"यह क्या? आप मेरे श्रद्धेय माता-पिता की भी ऐसी आलोचना करने का साहस करते हैं?"

युवक ने तनिक नर्मी तथा दृढ़ता से कहा—"देवी, आपका अपमान करना मेरा अभीष्ट नहीं ; जो बात है, सो कह दी।"

"तो क्या आप भी समाज से इस विषय में सहमत हैं?"

युवक ने मेज़ पर पड़े हुए एक काग़ज़ को मोड़ते-मोड़ते कहा—"जो बात जैसी है, वैसी माननी ही पड़ती है। तिस पर भी मैं आपका आदर करता हूँ।"

सरला कुछ काल तक ज्ञान-शून्य की तरह चुपचाप बैठी रही। फिर बोली—"तो आप मुझे स्वीकार नहीं करेंगे?"

"प्रथम ही कह चुका हूँ कि पिताजी को राज़ी करूँगा।'

"और यदि वह राज़ी न हुए?"

"तो भी मैं आजन्म आपको अपने ही आत्मीय की तरह समझता रहूँगा।"

सरला के रोम-रोम में आग लग रही थी। उसी उत्तेजना में उसने कहा—"तो आप पिता के इतने अधीन हैं?"

"आप ही कहिए कि यह मेरा कर्तव्य नहीं है "

"मैं वह नहीं पूछती। मेरा कथन यह है कि जब आप इतने पराधीन थे, तो आपने मुझसे वैसा प्रस्ताव ही क्यों किया था? आपने मुझे उस संबंध की बात ही क्यों सुझाई थी?"

युवक ने निर्लज्जता-पूर्वक कहा—"देवी, उस भूल के लिये मैं क्षमा माँगता हूँ। अब समय नहीं है। आज ही रात को मुझे जाना है।"

"कहाँ ?"

"घर।"

"घर ?"

"हाँ !"

"ब्याह करने ?"

"देखता हूँ, क्या प्रबंध किया गया है। एक बार पिताजी को समझाऊँगा।"

"क्या समझाओगे ?"

"कह तो चुका कि वह तुम्हारे साथ ब्याह की अनुमति दे दें, तो—"

"पर तुम्हें तो अनुताप हो रहा है। अभी तो तुमने उस भूल के लिये क्षमा माँगी है।"

"हाँ, पर आप मेरा भाव समझीं नहीं। अस्तु, पर अब समय नहीं है। मैं आपको अपने विचार फिर लिखूँगा।"

सरला ने दर्प के साथ कहा—"नहीं, आपको पत्र लिखना नहीं होगा, पर मेरी एक उचित प्रार्थना माननी होगी।"

"क्या ? जल्दी कहिए, समय नहीं है।"

"आप अपना नाम बदल लें।"

इस बार सरला का मुख युवक से देखा नहीं जाता था। उस तेज को वह सहन न कर सका। कुछ काल तक मुग्ध की तरह खड़े रहकर उसने कहा—"आप शांत हों, और मुझे आज्ञा दें, मैं चला जाऊँ।"

सरला ने सतेज स्वर से कहा—"ठहरो।"

इतना कहकर सरला ने अपना बक्स खोलकर एक छोटा-सा सुंदर चित्र निकाला। यह उसने महीनों परिश्रम करके बनाया था। उसके नीचे सुनहरे अक्षरों में लिखा हुआ था—'श्रीयुत विद्याधर'। सरला ने क़लम लेकर उस पर लिखे हुए सुंदर नाम को काट डाला, और युवक से कहा—"यह लो, जार-कन्या के पास—जिसे दासी बनाने में पुरुष की जाति जाती है—यह चित्र रहने योग्य नहीं है। और, मेरे पूज्य गुरुदेव का नाम भी इस पर शोभा नहीं देता था। उसे मैंने काटकर नष्ट कर दिया है।"

युवक काठ के पुतले की तरह खड़ा देख रहा था। उसने बीच में कुछ कहना चाहा, पर कह न सका।

सरला बोली—"आपका समय व्यर्थ जा रहा है। स्वच्छंदता से जी चाहे, जहाँ जाइए।"

युवक खड़ा रहा। उसके नेत्रों में आँसू भर आए। उसने कहा—"देवी! एक बार विचारने का अवसर दीजिए—एकदम न त्यागिए।"

सरला की आँखों में आँसू नहीं थे। उसने एक ऐसी तेजोमयी दृष्टि युवक पर डाली कि वह काँप गया। उसने कहा—"आज्ञा हो, तो जाऊँ।"

सरला ने दृढ़ता से कहा—"अच्छा।"

युवक चलने लगा, तो सरला ने बाधा देकर कहा—"यह चित्र लेते जाइए।"

"इसे रहने दीजिए।"

"कदापि नहीं। जार-पुत्री के पास इसकी शोभा नहीं है। आवश्यकता भी नहीं है।"

युवक फिर ठहर गया। सरला ने वह चित्र उसके हाथ में दे दिया। युवक बोला—"क्या आप इसे स्वीकार न करेंगी?"

"नहीं।"

"क्यों?"

"किसलिये रक्खूँ?"

"यह तुम्हारा प्रेम-भाजन नहीं है?"

"बिलकुल नहीं।"

"इसमें तुम्हारी कुछ भी श्रद्धा नहीं है?"

"नहीं; जो थी, उसे अभी नष्ट कर चुकी।"

युवक ने कड़ककर कहा—"बस, अब अपमान नहीं सहा जाता। बहुत हुआ। तुम्हारी घृणा के भाजन स्मृति-चिह्न का यहीं अंत हो।" यह कहकर युवक ने उसी क्षण उस चित्र के टुकड़े-टुकड़े कर डाले, और जल्दी से बाहर निकल गया। उसी समय शारदा ने, जो युवक से ब्याह का प्रस्ताव करने आई थी, कमरे में प्रवेश करके देखा—युवक जा रहा है। चित्र फटा पड़ा है। सरला निश्चल, स्तब्ध खड़ी है। उसकी आँखों

में भयंकरता छा रही है। बाल खुलकर बेतरतीबी से बिखर रहे हैं। शारदा देखती रह गई। उसके मुख से एकदम निकल पड़ा—"यह क्या!"

अठारहवाँ परिच्छेद

शारदा बोली—"यह क्या ?"

परंतु उत्तर कुछ भी न मिला। सरला पत्थर की तरह निश्चल खड़ी हुई ज्वालामय नेत्रों से शारदा की ओर निहारती रही, मानो उसमें चेष्टा है ही नहीं।

शारदा ने उसका हाथ पकड़कर कुर्सी पर बैठाया। सरला कठ-पुतली की तरह कुर्सी पर बैठ गई। अब भी वह निश्चल था। शारदा डर गई कि इसे लक़वा तो नहीं मार गया, या इसका सिर तो नहीं फिर गया।

कुछ देर में उसने फिर कहा—"बेटा, कुछ मैं भी तो सुनूँ, बात क्या है। हुआ क्या ?"

अब की बार सरला ने कुछ कहना चाहा, पर होठ फड़ककर रह गए। उसका मुँह सूख रहा था। जीभ तालू से सट रही थी।

शारदा दौड़कर गई, और उसने एक गिलास पानी लाकर सरला के होठों से लगा दिया। उसे सरला चुपचाप पी गई। शारदा ने फिर ढाढ़स देकर कहा—"शांत होओ बेटा! ऐसी भी क्या बात है!" अब की बार सरला ने कहा—"मा, व्यभिचार की संतान को वह नहीं ग्रहण करना चाहते। अब वह व्याह करने स्वदेश गए हैं।" यह आवाज़ सरला से बिलकुल ही नहीं

मिलती थी। ये भीषण शब्द और ज्वलंत नेत्र तथा सफ़ेद मुख देखकर शारदा घबरा उठी। उसने सोचा, इस समय यह अत्यंत उत्तेजित हो रही है, अतएव इसे सुला देना चाहिए। वह बोली—"यही बात है? इसमें क्या है? अच्छा, चल सो रह, पीछे देखा जायगा।" सरला चुपचाप उठ खड़ी हुई, और उसने कहा—"चलो।"

यह बात उसने ऐसी उद्दंडता से कही कि शारदा दहल उठी। वह शंकित हृदय से उसका हाथ पकड़कर उसे ले चली, और खाट पर लिटाकर, जल्दी से जाकर कुछ खाने को ले आई। सरला बिना कहे ही खाने बैठ गई, और थोड़ी ही देर में सब चाट गई। इस बीच में न शारदा कुछ बोली, न सरला। सरला फिर लेट गई। यद्यपि वह चुपचाप पड़ी थी, पर शारदा ने ध्यान से देखा, उसका मुख भीषण और नेत्र विस्फुटित होते जा रहे हैं। शारदा ध्यान से यही देख रही थी, और सरला भी चुपचाप उसकी ओर देख रही थी। एकाएक उसकी दृष्टि कमरे में रक्खे हुए एक खिलौने के ऊपर ठहर गई। कुछ क्षण तो वह उसे देखकर अस्फुट स्वर से कुछ कहती रही, फिर एकाएक प्रचंड वेग से उस पर टूट पड़ी, और उसे उठाकर उसने धरती पर पटक दिया। खिलौना चूर-चूर हो गया। शारदा की प्रथम तो डर से चीख निकल गई। फिर उसने सरला को पकड़कर पलँग पर डाल दिया। सरला अब भी कुछ अस्फुट बक रही थी।

शारदा उसका मुँह सूखा देख दौड़कर पानी ले आई। सरला ने झपटकर गिलास छीन लिया, और गटागट पी गई। शारदा ने उसके सिर पर हाथ फेरकर कहा—"सरला, तेरी यह क्या हालत है ?"

सरला ने अधीरता से क्रुद्ध होकर कहा—"तो इसे यहाँ रक्खा किसने था ? स्त्रियों के घरों में पुरुषों का काम क्या ?" इतना कहकर उसने विकटता से दाँत पीस डाले।

शारदा समझ गई। सरला तो पागल हो गई, अब क्या करूँ ? उसने दासी को बुलाकर कहा—"बाबूजी को बुलाओ तो, सरला का जी अच्छा नहीं है।"

थोड़ी देर में श्यामसुंदर ने कमरे में प्रवेश करके कहा—"क्यों, क्या बात है ?"

शारदा ने सरला की ओर संकेत करके कहा—"देखो तो, सरला तो अब सरला नहीं रही।"

श्यामसुंदर बाबू ने पास आकर सरला से कहा—"क्यों सरला, हुआ क्या है ?"

सरला ने कहा—"कुछ हो, तो बताऊँ बाबूजी ! मा का सिर फिर गया है। वह इस तरह आँख फाड़-फाड़कर देखती है, जैसे पहचानती ही नहीं।" इसके बाद बाबू का हाथ पकड़कर सरला ने कहा—"तुम देखो न ! क्या मैं कोई गैर हूँ ?" यह कहकर वह आँखें फाड़कर सुंदर बाबू को देखने लगी। सुंदर बाबू सहमकर पीछे हट गए। उन्होंने शारदा से कहा—"हुआ

क्या ? कोई घटना हुई है क्या ? यह तो पागल-सी हो गई है।"

सरला ने चिल्लाकर कहा—"यह क्या चुपचाप सलाह कर रहे हो ! बाबूजी, क्या तुम मुझे घर से निकाल दोगे ? हाय, पुरुष-जाति कैसी हृदय-हीन है !" इतना कहकर सरला ने कपड़े फेंक दिए। सुंदर बाबू चुपचाप वैद्य बुलाने चले गए।

वैद्य ने आकर जो सरला को देखा, तो सुंदर बाबू को एकांत में ले जाकर साफ़ ही कह दिया—"प्रबल मनोविघात हुआ है ! उसे किसी तरह रुलाइए, या कोई शारीरिक कष्ट पहुँचाइए, जिससे शोक प्रकट हो; नहीं तो प्राण-नाश की संभावना है।" दोनो सन्न रह गए। अभी जो एक घटना घटी है, उसे पूरे ४ मास भी नहीं बीते, फिर यह एक और अचानक वज्र-पात ! सुंदर बाबू ने वैद्य का मुँह ताकते-ताकते कहा—"क्या किया जाय ? आप ही कुछ उपचार कीजिएगा। हमारे तो होश ठिकाने नहीं हैं।" कुछ सोचकर वैद्यजी फिर रोगी के पास आकर बैठ गए। उन्होंने रोगी का हाथ अपने हाथ में लेकर कहा—"कैसी हो सरला !" सरला ने गिड़गिड़ाकर कहा—"जैसी हूँ, वैसी हूँ। मुझमें कुछ विकार नहीं है। मेरा मन भी पाप से अछूता है। ये मेरे इतने कृपालु माता-पिता-से ही हैं। इन्हें भी मुझ पर संदेह, घृणा ? ये मुझे घर से निकाल देंगे, तो मैं कहाँ जाऊँगी ? मेरा तो कोई नहीं है।"

वैद्यजी समझे, शायद यह रो उठे। उन्होंने कहा—"तो क्या

चाहती हो ?" अब की बार सरला ने भौंहें मरोड़कर कहा—"तुमसे मैं कुछ नहीं चाहती। पुरुषों से किसी ने कुछ चाहकर कुछ पाया होगा ?" यह कहकर सरला एक सूखी अपमान की हँसी हँस उठी। कुछ ठहरकर उसने कहा—"तुम लाख भुलावे दो, मैं साफ़ ही कहती हूँ। मैं यहाँ से न जाऊँगी। क्या यह मेरा घर नहीं है ? मेरे बाप के घर से निकालनेवाले तुम कौन ?" यह कह सरला ने फिर विकट दृष्टि से आँखें तरेरकर वैद्य की ओर देखा। उसका यह भाव देखकर शारदा रो उठी—"हाय, मेरी सरला भी गई !"

वैद्यजी उठ खड़े हुए। उन्होंने कहा—"रोग वृद्धि पर है। कुछ नींद आनी चाहिए। दवा भेजता हूँ। नियम-पूर्वक देना। फिर यथाशक्य शोक उभारना चाहिए। इस उम्र में यह रोग बहुत ही भयंकर हो जाता है।" वैद्य के साथ दवा लेने स्वयं सुंदरलाल ही गए। शारदा रोकर सरला के ऊपर गिर पड़ी। सरला ने मधुरता से कहा—"मा, तुम रोती क्यों हो ?"

सरला की वाणी सौम्य देखकर शारदा बोली—"मेरे छौना ! मेरे भाग्य में रोना ही है। तुम्हारे देवता पिता ने ब्याह की ही रात को मुझे त्याग दिया। अपने जीवन का एक-एक दिन मैंने अपना हृदय जला-जलाकर बिताया है। मैं भगवान् से नित्य प्रार्थना करती थी। हे ईश्वर ! सबके मालिक ! सब दुःख सबको देना, पर किसी के हृदय में आग न लगाना। इससे तो मृत्यु ही अच्छी है। लाख दर्जे अच्छी है।" यह

कहकर शारदा फूट-फूटकर रोने लगी। सरला ने सिर उठाकर कहा--"मा, मृत्यु अच्छी है, तो वह कहाँ मिलती है ?"

"विधाता देता है, तो सब जगह मिल जाती है। नहीं तो सर्प का मुख, अतल-पाताल, सिंह की माँद, कहीं भी नहीं मिलती।"

"कहीं भी नहीं मिलती ?"

"मिलती, तो यह दुःख न सहती। इस आग में जलते-जलते एक-दो दिन नहीं, पूरे अट्ठाईस वर्ष हो गए हैं। ईश्वर से भी प्रार्थना करने का यही फल हुआ कि मेरी बेटी को ही इस उम्र में यह वेदना !"

शारदा को रोते देखकर सरला की भी आँखों में आँसू आ गए। शारदा ने देखा, उसका मुख वैसा भयानक नहीं है। उसने उठाकर सरला को गोद में बिठा लिया। सरला मा की छाती से लिपटकर सिसक-सिसककर रोने लगी।

इसी समय सुंदर बाबू ने औषध लेकर कमरे में प्रवेश किया। देखा, सरला रो रही है। यह देखकर उन्हें कुछ ढाढ़स हो गया।

उन्हें देख दोनो अलग-अलग हो गईं। सरला मानो नींद से चौंक उठी। वह तमककर खाट पर पड़ रही। सुंदर बाबू बोले—"सरला, यह औषध खा लो।"

"औषध ! किस बात की औषध ? क्यों मा, कैसी औषध ?"

"तुम्हारा जी अच्छा नहीं है न।"

"समझी, इससे अच्छा हो जायगा ?"

"हाँ।"

"लाओ खाऊँ। देखूँ कैसा औषध है।" यह कहकर सरला सुंदरलाल की ओर देखकर मुस्किराने लगी।

शारदा ने देखा, उसके नेत्रों की सरलता फिर उड़ गई है। उस समय सुंदरलाल का वहाँ आना ही बुरा हुआ। सुंदर बाबू ने दवा तैयार करके दी। औषध हाथ में लेते ही सरला ने उसे धरती में दे मारा, और फिर आँखें तरेरकर कहा—"इतनी-सी औषध, तुमने क्या मुझे यों ही समझ रक्खा है ? औषध मैं न खाऊँगी।" यह कहकर सरला उधर से मुँह फेरकर पड़ रही।

सुंदरलाल चुपचाप शारदा का मुँह ताकने लगे। शारदा ने अत्यंत करुण दृष्टि से देखकर कहा—"इस वक्त और कुछ देर आप न आते, तो ठीक होता। मैं यहीं हूँ। आप जाकर सो जाइए। सावधान देखते ही दवा दे दूँगी।" सुंदर बाबू चले गए। शारदा चुपचाप सरला की चारपाई पर आ बैठी। देखा, 'सरला सो रही है। उसने विचारा, चलो अच्छा हुआ। सोने से कुछ शांति मिलेगी। पर शारदा ने देखा, सोती हुई भी सरला शांत नहीं है। कभी मुस्किराती है, और कभी उसका मुख भीषण हो उठता है। शारदा को वह सारी रात जागते बीती।

कई दिन हो गए। सरला के आराम होने के कोई लक्षण न दिखाई पड़े, प्रत्युत उसका उन्माद बढ़ता ही गया। वह घर से भागने की चेष्टा करने लगी। हाय, हमारी सरल सरला पागल हो गई !

उन्नीसवाँ परिच्छेद

पूस का महीना है। कड़ाके की सर्दी पड़ रही है। ठंडी हवा तीर की तरह लग रही है। इस समय वसंतपुर में चलकर देखिए, कितने ही ग़रीबों के घरों के छप्पर उड़ गए हैं, कितनों के मकान गिर गए हैं, और सर्दी में ठिठुर-कर सैकड़ों पशु मर गए हैं। कुछ सर्दी-सी-सर्दी है। शीत तो है ही, और उस पर यह घटाटोप और चौबीसो घंटे की टप-टप। हवा सन्नाटा भरकर रह-रहकर प्रचंड होती है। ऐसे समय में हम लोकनाथ के पुराने घर में चलते हैं। अब से तीन वर्ष प्रथम हम सरला के साथ ही वहाँ से बिदा हुए थे। अब उस स्वर्गीय मूर्ति की ऐसी शोचनीय दशा देखकर मनुष्य के ज्ञान और विवेक से घृणा हो गई है। अब हमें वहाँ ठहरने का साहस नहीं होता। घर की दशा प्रायः वैसी ही है। अंतर इतना ही है कि सामान कुछ कम है, साधुओं का-सा आश्रम मालूम होता है। चारो ओर के द्वार बंद करके सत्य गाँव के दो-चार किसानों के साथ बैठा हुआ आग ताप रहा है। उसकी अब वह सूरत नहीं है, जो पहले देखी थी। सिर के बाल बढ़कर परस्पर उलझ गए हैं। नेत्रों में शांति और दया का विस्तार है। न उनमें चंचलता है, न तृष्णा।

गाँव के सब लोग सत्यव्रत का बड़ा आदर करते हैं। सत्य ने सेवा-व्रत धारण कर रक्खा है। कोली, चमार, भंगी— गाँव में किसी के भी रोग की खबर सुनते ही सत्य दौड़-कर वहाँ जा पहुँचता है। गाँव-भर के बाल-बच्चे उसे अपना पिता समझते हैं। एक बात और है। चाहे उससे कोई कैसा ही व्यवहार करे, सत्य कभी नाराज़ नहीं होता। जब वह गली में निकलता है, तो झुंड-के-झुंड बालक उससे लिपटकर तरह-तरह की बातें करने लगते हैं। सत्य चाहे किसी काम से निकला हो; वह सब कुछ भूलकर उनके साथ खेल में लग जाता है। सत्य के द्वार पर किसी को रोक नहीं। जिसके घर नहीं, वह वहाँ आकर सो जाय। जिसे खाना न मिले, वह सत्य के घर जाकर खा ले। सत्य की सरलता, स्वच्छता, सेवा और प्रेम देखकर मन मुग्ध हो जाता है।

प्रायः ऐसा देखने में आता है कि जो पुरुष जनता में कुछ जगह कर लेता है, उससे कुछ लोग जलने लगते हैं। पर सत्य का एक भी शत्रु नहीं है। उसे न कुछ आशा है, न आकांक्षा। वह मशीन की तरह अपने आवश्यक कार्य यथासमय करता है। उसके लिये हानि-लाभ सब बराबर है। वह न कभी प्रसन्न होता है, न उदास। सदा एकरस। गंभीरता, दृढ़ता और विश्वास की उज्ज्वल श्री उसके मुख पर विराजमान रहती है। एक उसमें विचित्र गुण था।

वह कभी किसी पर अविश्वास नहीं करता था। इससे बड़े-बड़े चोर भी उसे धोखा न देते थे। दुष्टों से वह बचकर न चलता था। आश्चर्य की बात है कि मनुष्य चाहे दुष्ट हों या सज्जन, उससे सदा-सर्वदा एक-सा ही भाव रखते थे। किसी को उसे छलने का साहस ही न होता था। कदाचित् कोई उद्दंड उसे हानि पहुँचाता, तो सत्य उसका कुछ भी ध्यान न करता—अंत में वह लज्जित होकर उसका दास बन जाता।

इन तीन वर्षों में सत्य कुछ-का-कुछ हो गया है। पहले उस पर दया करने को जी चाहता था, उसे दिलासा देने की लालसा होती थी, और अब उस पर श्रद्धा करने को जी चाहता है—उससे कुछ आदेश पाने को मन होता है। वह अकेला कभी न रहता था। आज भी ऐसे दुर्दिन में वह अकेला नहीं है। रह-रहकर हवा के झोंके उसके घर के किवाड़ों को खटका देते हैं। अचानक बाहर से मनुष्य-कंठ का शब्द सुनकर सत्य ने कहा—"क्या बाहर कोई है ?" पर फिर कुछ नहीं सुनाई दिया। झमाझम मेह बरस रहा था। वायु की सनसनाहट में उसे फिर कुछ शब्द सुनाई दिया। सत्य ने कहा—"गोपाल, किवाड़ खोलकर देखो तो, बाहर कोई है।"

गोपाल के किवाड़ खोलते ही बौछारों ने उसको घबरा दिया। तुरंत ही द्वार बंद करके उसने कहा—"ऐसे वक्त में

बाहर आदमी कहाँ हो सकता है भैया। हवा की तेज़ी का भी कुछ ठिकाना है ?" सत्य फिर आग तापने लगा, पर उसके कान वहीं लगे रहे। अचानक फिर कुछ स्वर सुनाई दिया। सत्य ने कहा—"देखो, फिर वही। अच्छा, ठहरो, मैं देखे आता हूँ।" यह कहकर सत्य स्वयं बाहर आया। बौछार आ रही थी। अंधकार में हाथ को हाथ नहीं सूझता था। एकाएक भीषण गर्जन के साथ बिजली कड़क उठी। सत्य ने उसी क्षणिक प्रकाश में देखा, सामने भीत के सहारे कुछ वस्तु-सी पड़ी हुई है। अब की बार फिर वहाँ से कराहने की ध्वनि आई। सत्य लपककर वहाँ पहुँचा, देखा, कोई स्त्री पड़ी है। सत्य उसे उठा लाया। तीनों आदमी जो ताप रहे थे, खड़े हो गए। बोले—"यह कौन है ?"

सत्य ने उसे पलँग पर लिटा दिया। कपड़े उतारकर सूखे कपड़े पहनाए। इतनी देर में जो स्वस्थ होकर उसने गौर से देखा, तो उसके मुँह से ज़ोर से एक साथ निकल गया—"सरला ?"

तीनों पड़ोसी अचरज से बोले—"सरला यहाँ कहाँ ?"

सत्य ने कहा—"भाई ! ज़रा आग तो ले आओ। यह तो बिलकुल ठंडी है ! सरला आज यहाँ कैसे आ गई ?"

सत्य का कलेजा धड़कने लगा। उसने देखा, सरला की आँखें बंद हैं। होठ नीले पड़ गए हैं। नाड़ी बिलकुल मंद

है। शरीर जकड़ गया है। सत्य की आँखों से पानी टपक पड़ा। हाय! इतने दिन पीछे सरला आई, तो इस सूरत में! सत्य ने उसी क्षण हाथ जोड़कर और आँखें बंद करके संसार के स्वामी से सरला के मंगल की कामना की। पर क्या जाने वह वहाँ तक पहुँची भी, या वायु और बौछार की झपेटों से बीच में ही नष्ट हो गई।

इतने में आग आई। कमरा गरम हुआ। सरला ने आँखें खोल दीं। सत्य ने थोड़ा-सा दूध लाकर उसके मुँह में धीरे-धीरे डालना शुरू किया। कुछ देर में सरला को होश आ गया। उसने चारो तरफ़ देखकर सत्य का हाथ पकड़कर कहा—"कौन? सत्य? मैं तुम्हारे घर आ गई? अच्छा हुआ। देखो, मैं बहुत थक गई हूँ। प्रयाग से पैदल आ रही हूँ। न-जाने कब से कुछ नहीं खाया। आँधी-मेह में कहीं एक क्षण को भी नहीं रुकी हूँ। तुम्हारे लिये चली आ रही हूँ।"

सत्य ने आँखें डबडबाकर रुँधे कंठ से काँपते-काँपते कहा—"सरला, मेरे लिये इतना कष्ट क्यों? मुझे बुला लेतीं, मैं ही आ जाता।" यह कह सत्य ने सरला के माथे पर के बालों को पीछे हटाकर ओढ़ना ठीक कर दिया।

सरला ने अत्यंत मधुरता से कहा—"सत्य, तुम्हें लूटकर मैं ही चली गई थी, और अब तुम्हारी सेवा करने मैं ही आ गई हूँ!"

सत्य ने सरला के माथे पर हाथ फेरकर कहा—"मुझे तो

तुम अक्षय संपत्ति दे गई थीं। तुम्हारे ही रक्षा-कवच से जी रहा हूँ सरला !" यह कहकर सत्य खाट के पास धरती पर धीरे से बैठ गया। उसका सारा गात्र काँप रहा था। मुँह से बात नहीं निकलती थी।

सरला ने सत्य का हाथ पकड़कर कहा—"सत्य! तुमने बड़ी तपस्या की है। तुम कैसे हो गए हो? तुम्हें देखने को कलेजा तड़फ रहा था। तुमने जब पत्र लिखा था, तब क्या तुम रोए थे?"

सत्य ने काँपते-काँपते बड़ी कठिनता से कहा—"मेरी आराध्य देवी! तुमने जो मार्ग बताया था, उसी पर चल रहा हूँ। वह पुण्य तो अवश्य था, पर यह नहीं जानता था कि भगवान् उसके प्रताप से इसी जन्म में मनोकामना पूर्ण करेंगे।"

यह कहते-कहते सत्य रो उठा। उसके साथ ही तीन वर्षों की निराशा का दुःख जो उसके रोम-रोम में रम गया था, उसे याद करके वह बोला—"देवी! क्या कहूँ, मैं इन तीन वर्षों में एक दिन भी नहीं सोया!"

सरला ने सत्य के आँसू पोंछकर कहा—"अब दुखी क्यों होते हो? कल तक धीरज धरो। मैं तुम्हारा ऋण परिशोध करने के लिये ही आई हूँ। बहुत थक रही हूँ। इस समय सो लेने दो। सबेरे मैं तुमसे ब्याह करूँगी।" सत्य का ज्ञान नष्टप्राय हो रहा था। वह धीरे से उठकर चल दिया। सरला सो गई।

सत्य को उस रात नींद नहीं आई। बारंबार वह सरला के कमरे में झाँककर देखता, सरला आराम से सो रही है।

दिन निकल आया। पक्षी चहचहाने लगे। सूरज की सुनहरी धूप वृक्षों की चोटियों पर पड़ने लगी। सत्य ने सरला के द्वार पर से झाँककर देखा—सरला अभी सो रही है।

रात का एक-एक क्षण कल्प के समान काटकर सत्य ने यह प्रभात देखा है, जिसमें सरला, उसके नेत्रों की ज्योति, हृदय का भूषण, आत्मा की तृप्ति सबके साथ उसकी होगी। पर वह तो अभी सो ही रही है। अंत में सत्य से न रहा गया। वह झपटकर भीतर गया, पर सरला वहाँ थी कहाँ! उसका प्राण-पखेरू कब का उड़ चुका था। उसका बर्फ के समान श्वेत और ठंडा शरीर पड़ा हुआ जगत् के ज्ञान और महत्त्व का तिरस्कार कर रहा था!

I love you Do not you love

बीसवाँ परिच्छेद

सरला के साथ ही हमारी कहानी समाप्त हो गई है। आगे कुछ कहने को लेखनी उठती भी नहीं; पर हमसे शारदा और सुंदर बाबू की खबर लिए बिना नहीं रहा जाता।

जब से सरला उन्मत्त दशा में अवसर पाकर घर से निकल भागी, शारदा दिन-रात रोती हैं। वह पागल-सी हो रही हैं, न खाने का ध्यान न नहाने का। बैठी हैं तो बैठी रहती हैं, और पड़ी हैं तो पड़ी। घर शोभा-विहीन और मलिन हो रहा है। कुछ सोचकर सुंदरलाल ने विदेश-भ्रमण की ठहराई। एक शुभ दिन दोनों चल दिए।

रास्ते में अनेक नगर और तीर्थ-स्थान देखते हुए वह लाहौर पहुँचे। देखने योग्य सब स्थान देख डाले। एक दिन संध्या-समय सुंदर बाबू एक मजदूर के सिर पर भोजन की सामग्री रखाए बाजार में से जा रहे थे, और एक स्थान पर, सड़क से कुछ हटकर, कुछ लोग गोल बाँधे खड़े थे।

कौतूहल-वश सुंदर बाबू ने सोचा, देखें तो क्या है। कुछ और आगे बढ़कर उन्होंने देखा—एक अधेड़ पुरुष उस भीड़ के बीच में खड़ा हुआ कुछ बेच रहा है। उसकी

आँखें कोयों में धँस गई हैं, डाढ़ी के बाल बढ़कर उलझ गए हैं, सिर के बाल धूल से भर रहे हैं, और कपड़े फटे और मैले हो रहे हैं। पैरों में जूता नहीं है। बड़े यत्न से वह अपने हाथ में के छोटे-छोटे चित्रों को एक-एक पैसे में बेच रहा है। इतनी भीड़ खड़ी है, पर कोई उससे खरीदता नहीं। चित्र अच्छे हैं, और बात-बात पर वह शपथ देकर कहता है कि चित्र अच्छे हैं, ले लो; पर कोई नहीं लेता। जिस श्रेणी के लोग खरीदते थे, वे पैसे के मुक़ाबिले चित्र को कुछ आदर नहीं दे सकते थे।

सुंदरलाल ने आगे बढ़कर कहा—"देखें, कैसे चित्र हैं।" उसने नम्रता से कहा—"देखिए न। एक पैसे में लूट नहीं रहा हूँ!" इतना कहकर ज्यों ही उसने चित्र देते-देते सुंदर बाबू के मुख को देखा कि वह एकदम चीख मारकर उछल पड़ा। सुंदर ने भी जो ध्यान से देखा, तो वह भी पागल की तरह चिल्ला उठे—हैं-हैं—भूदेव! तुम कहाँ? सुंदर बाबू ने लपककर उन्हें छाती से लगा लिया। समस्त उपस्थित पुरुषों में कौतूहल फैल गया।

कुछ देर तक दोनो स्तब्ध रहे। फिर चिरदुखी सुंदर-लाल ने रोते-रोते कहा—"भाई! तुम्हारी यह दशा! हाय! तुम्हारी यह दशा!"

भूदेव ने एक ठंडी साँस खींचकर कहा—"इतने दुखी क्यों होते हो सुंदरलाल! तुम चाहते, तो मैं—" उसके होठ

फड़ककर रह गए, फिर उसने एक ठंडी साँस खींचकर कहा—"अंत में तुम मिल ही गए।"

सुंदरलाल ने अत्यंत दुखी होकर कहा—"तुम ऐसे निष्ठुर हो गए भूदेव! तुम्हें किसी पर दया नहीं आई?"

भूदेव ने कहा—"जिसे अपने ऊपर दया नहीं आती, उसे किसी पर क्यों दया आवेगी? पर अब मलामत मत दो, बहुत कुछ फल भोग लिया है। चलो, स्थान चलो।"

"कैसा स्थान?"

"मेरा घर, मैं यहाँ तीन वर्ष से हूँ।"

सुंदरलाल ने कहा—"उस घर में आग लगा दो, तुम्हें मेरे साथ चलना होगा। अभी चलो।"

"तुम्हारे साथ क्या चलूँगा! जैसे इतने दिन भूले रहे हो, वैसे ही अब भी इस कुमार्गी को मरने दो। शायद तुम नहीं जानते कि मैंने अन्य स्त्री से संबंध स्थापित कर लिया था, और उससे संतान भी हुई थी। मैं तुम्हारे घर जाने के योग्य नहीं हूँ। होता, तो अब तक कब का आ जाता।"

सुंदरलाल ने कहा—"वह सब मालूम है, पर उन सब बातों को भूल जाओ।"

भूदेव ने चौंककर कहा—"क्या मालूम है? सब मालूम है? सरला और शशि दोनो कहाँ हैं? अब उनकी क्या दशा है?"

"वे दोनो अब इस संसार में नहीं हैं।" यह कहकर सुंदरलाल ने संक्षेप में सारी कथा कह सुनाई। फिर बोले—

"चलो, अब ज्यादा दुखी मत करो। भगवान् ने हमारी यात्रा सफल कर दी। अपनी सती साध्वी स्त्री पर अत्याचार करते तुम्हारा कलेजा नहीं काँपा—तुम्हें उस पर दया नहीं आई ?"

भूदेव की आँखों में पानी भर आया। उसने रुँधे हुए कंठ से कहा—"शारदा कैसी है ?"

"जैसे तुमने रख छोड़ा है।"

अँधेरा हो चला था। दोनों चल दिए। चलते-चलते सुंदर बाबू बोले—"कहाँ चल रहे हो ? तुम्हें अभी मेरे साथ चलना होगा।"

भूदेव ने रोते-रोते कहा—"भाई ! कष्ट से कलेजा पक गया है। जब अंत-समय तुम मिल गए हो, तो अब तुम्हें छोड़कर नहीं मरूँगा। चलो, मैं अपनी स्त्री के चरणों में अपने पापों का प्रायश्चित्त करूँगा। पर तुम्हारे इच्छानुसार, चलो, मैं अपने घर में आग लगा आऊँ ! मुझे वहाँ से एक वस्तु लानी है।" यह कहकर भूदेव एक महा मैले मुहल्ले में एक मैली कोठरी में पहुँचे। घर में मूर्तिमान् दरिद्रता विराज रही थी। एक कोने में एक फटे चिथड़ों का बिछौना बिछा था। एक और कोने में मिट्टी का पुराना घड़ा लुढ़क रहा था। घर में कुछ नहीं था। उसने काग़ज़ों का एक बंडल उठाकर ले लिया। फिर कुछ संकुचित होकर कहा—"सुंदर भाई ! तुम्हारे पास कुछ पैसे हों, तो दे दो।"

सुंदर ने बिलखकर कहा—"हाय! यह भूदेव जमींदार का घर है।"

भूदेव की आँखों से आँसू टपक रहे थे। उसने कहा—"धीरज धरो, जो होना था हो गया। कुछ दाम दो, मैं इस मकान का भाड़ा चुका आऊँ!"

सुंदर बाबू ने जेब से मनीबेग निकालकर रोते-रोते भूदेव के चरणों में पटक दिया। उस समय उनकी हिचकी बँध रही थी।

सामने ही एक परचून की दूकान थी। भूदेव ने उसे जाकर किराया चुका दिया, और वे दोनो पैर बढ़ाए चल दिए। भूदेव काँप रहे थे। रास्ते में बातचीत होती गई। गरम-गरम आँसू भूदेव के नेत्रों से बह रहे थे। रात बहुत हो गई थी। शारदा घबराई हुई बरांडे में खड़ी राह देख रही थी। उसने दूर से देखा, भाई आ रहे हैं, और उनके साथ ही कोई भिखारी आ रहा है। यह कोई नई बात नहीं थी। क्योंकि प्रायः नित्य ही किसी-न-किसी कँगले को सुंदर बाबू भोजन के लिये साथ ले आते थे। उसने देखते ही कहा—"भाई! तुम आ गए? मैं तो परेशान थी। दोनो आदमी तुम्हें ढूँढने गए हैं। इतनी देर कहाँ लगाई?"

सुंदरलाल ने उद्वेगपूर्ण स्वर से कहा—"बहन! नीचे उतर आओ। हमारे मनोरथ सफल हो गए। आशा पूर्ण हो गई। भूदेव आए है।"

शारदा के सिर में चक्कर आ गया। वह वहीं बैठ गई। सुंदर ने भूदेव का हाथ पकड़कर कमरे में प्रवेश किया। शारदा स्वामी का यह वेश देखकर विह्वल होकर धरती पर लोटने लगी!

भूदेव अपराधी की तरह खड़े काँप रहे थे।

सुंदर ने कहा—"शांत होओ बहन! ऐसे मंगल के समय क्या तुम्हें शोक करना चाहिए?" इतना कहकर उन्होंने भूदेव को दूसरे कमरे में ले जाकर स्नान कराया, और नए वस्त्र पहनाए। ३० वर्ष के वियोग का अंत हुआ। सती-साध्वी रमणी-रत्न शारदा ४० वर्ष की अवस्था में पुनः सौभाग्यवती हुई। ईश्वर की माया अगम्य है! सुंदरलाल आजन्म ब्रह्मचारी रहे। सत्य को किसी ने कहीं न देखा।

लेखक की अन्य रचनाएँ

हृदय की प्यास

(द्वितीयावृत्ति)

लेखक, हिंदी के सुप्रसिद्ध लेखक प्रोफ़ेसर चतुरसेन शास्त्री। शास्त्रीजी गद्य-काव्य के लिये आचार्य माने जाते हैं, पर साथ ही इन्होंने उपन्यास लिखने में भी कमाल कर दिया है। आपने इस उपन्यास में जिस ढंग से मनुष्य के विचारों का संघर्षण कराया है, चरित्रों के चित्र खींचे हैं, उसे देखकर हमें दृढ़ विश्वास है कि यह उपन्यास अब तक के लिखे हुए मौलिक उपन्यासों में सर्वश्रेष्ठ है। रूप के मोह-पाश में फँसा हुआ, असंयमी, भावुक मित्र समाज में क्या-क्या अनर्थ कर बैठता है, इसका चित्र इस उपन्यास में जिस ढंग से खींचा गया है, वह पढ़ते ही बनता है। भावमयी भाषा, सुंदर शैली, सरल और सुबोध रचना का यह सर्वोत्तम नमूना है। मित्रता के लक्षण, सौंदर्य की विषमता, शंका की सत्यता, तज्जनित द्वेष और डाह, उसका दुष्परिणाम ही नहीं, वरन् आधुनिक शिक्षा से उत्पन्न सौंदर्योपासना, अविवेक और मतिभ्रम तथा पूर्व संस्कार के कारण कर्तव्य-परायणता और पश्चात्ताप इसमें पढ़ते ही बनता है। स्वयं पढ़िए, अपनी गृहिणी को भी पढ़ाइए। ६ रंगीन और सादे चित्रों से सुशोभित। मूल्य २), सजिल्द २॥)

खवास का ब्याह

(द्वितीयावृत्ति)

लेखक, श्रीचतुरसेनजी शास्त्री। शास्त्रीजी की लेखनी का समस्त हिंदी-संसार क़ायल है। पृथ्वीराज-रासो के आधार पर यह उपन्यास

लिखा गया है। क़न्नौज के राजा जयचंद ने जब संयोगिता का स्वयंवर किया था, तब सभी राजों को आमंत्रित किया गया था। पारस्परिक वैमनस्य के कारण पृथ्वीराज को नहीं बुलाया था। और, उसका अपमान करके सोने की एक मूर्ति बनाकर, खवास के रूप में, द्वार पर रख दी थी। जब यह बात पृथ्वीराज को मालूम हुई, तो वह अपने थोड़े-से चुने हुए सामंतों को लेकर क़न्नौज में भेष बदलकर आ गया, और स्वयंवर के वक्त संयोगिता को उठा, घोड़े पर बैठाकर, दिल्ली ले आया। संयोगिता भी पृथ्वीराज के गुणों पर मुग्ध थी। दोनो का विवाह हो गया। इसी कथानक के आधार पर बड़ी सुंदर भाषा में, यह उपन्यास लिखा गया है। एक रंगीन चित्र भी। मूल्य १), सजिल्द १॥)

अक्षत

८ अमर कहानियाँ। लेखक, हिंदी-संसार के श्रेष्ठ कहानी-लेखक और उपन्यासकार आचार्य चतुरसेनजी शास्त्री। क्या आप कल्पना कर सकते हैं कि निर्जीव क़लम रसीली, जीवित सुंदरी की भाँति किस प्रकार हँसती, रोती और ठुमक-ठुमककर नृत्य करती है, और मन किस प्रकार उस पर मोह-मग्न होकर, उन्मत्त मोर की भाँति नाचने लगता है!

कभी आतंक आपकी छाती में घूँसा मारकर कहेगा – कहो क्या देखा! कभी प्रेम गुदगुदाकर आपके सोते हुए मन को जगाकर कहेगा—उठ-उठ ओ यौवन के मतवाले! कभी आप अपने भीतर से रोने की—कभी हँसने की – ध्वनि सुनकर चौंक उठेंगे। आप आपे से बाहर हो जायँगे। ६-७ रंगीन और सादे चित्र। मूल्य १), सजिल्द १॥)

मिलने का पता—

गंगा-ग्रंथागार ३०, अमीनाबाद-पार्क, लखनऊ

Bharat Bhushan Dhar
B.Sc Hons
1970